समर्पण ।

स्वस्ति श्रीयुत नृपतिमणिमुकुट, कविकुलकमलदिवाकर गोब्राह्मण-प्रतिपालक, दुष्टजनघालक, प्रजावत्सल, भगवद्भक्तिरसिक, धर्म-धुरन्धर, गुणग्राही, प्रमरवंशावतंस, छत्रपुरनरेश H. H.

श्री १०८ श्रीमहाराजासाहिब

विश्वनाथसिंह जू देव

महोदयकरकमलेषु !

राजन् !

आपका राज्यशासन करतेहुएभी अधिक समय कविमंडलके साथ भगवद्भक्ति और धर्मपुस्तकोंके अवलोकनमेंही व्यतीत होता है। हिन्दी साहित्यपर आपका बडा अनुराग है, इसीसे आज श्रीमान्के करकमलोंमें धर्म और नीतिके उपदेशोंसे पूर्ण, बल्लालपंडितके " भोजप्रबन्ध " को भाषाटीकासे भूषित कर समर्पित करताहूँ। आशा है कि, प्राचीनकवियोंके वाक्य विनोदयुक्त होनेसे इस ' भेंट ' को आप अंगीकार करेंगे।

आपका शुभाकांक्षी-

श्यामसुन्दरलाल त्रिपाठी.

भूमिका।



राजा भोज मालवेके परमारवंशमें उत्पन्न हुए थे और विद्वानोंसे वन्दित होकर धारानगरीके प्रसिद्ध राजा हुए। कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्त्तन, मेरुतुंगके प्रबंधचिन्तामणि और वल्लालपण्डितके भोजप्रबन्धमें विद्योत्साही भोजराजका परिचय पाया जाता है।

भोजप्रबंधमें लिखा है कि, धारानगरीमें सिन्धुलनामक राजा रहता था और उसकी रानीका नाम सावित्री था। राजाकी वृद्धावस्थामें भोजनामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। जब भोजने पाँचवें वर्षमें पैर रक्खा तब वृद्ध राजाने अपना मृत्युसमय निकट जान प्रधानमंत्री बुद्धिसागरसे कहा, अब मेरा अन्तसमय है इस राज्यको किसे दूं? यदि पाँच वर्षके बालक भोजको राज्य दूंगा तो छोटा भाई मुंज राज्यके लोभसे यदि पुत्रको मारडालेगा तो वंश नष्ट हो जायगा। इससे मेरी सम्मतिमें यही आता है कि, छोटे भाई मुञ्जकोही राज्य दूं और बालक भोजको उसकी गोदमें पालन करनेके लिये बैठालदूं। बुद्धिसागर बोला महाराज! यही ठीक है। तब राजाने शुभमुहूर्तमें अपने छोटे भाईको राज्य दिया और उसकी गोदमें अपने कुमार भोजको बिठालदिया। फिर कुछ दिनोंके बाद राजा परलोकवासी हुए।

उक्त भोजप्रबंधमें धाराधीश, राजा सिन्धुलका छोटा भाई लिखा है। परन्तु पद्मगुप्तके "नवसाहसाङ्कचरित" में लिखा है कि, मुंज वाक्पति राजा सिन्धुलका बडा भाई था, मुंजकी मृत्युके पीछे सिन्धुल राजाने राज्य पाया* इन दोनों राजाओंकी सभामें पद्मगुप्तने राजकविके नामसे शोभा पाई थी, इस कारण पद्मगुप्तकी ही बात ठीक जान पडती है।

उदयपुरप्रशस्ति, नागपुरप्रशस्ति, भोजके ताम्रशासन और नवसाहसाङ्कचरितमें सिन्धुराजनाम रहते हुए भोजप्रबंध, प्रबंधचिन्तामणि आदि ग्रंथोंमें "सिन्धुल" नामही दृष्टि आता है। पद्मगुप्तके नवसाहसाङ्कचरित पढ-

---

* दिवं यियासुर्मम वाचि मुद्रामदत्त यां वाक्पतिराजदेवः।
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य भिनत्ति तां सम्प्रति सिन्धुराजः॥
(नवसाहसाङ्कचरित १।७)

नेसे जाना जाता है कि, इनके नवसाहसाङ्क और कुमारनारायण यह दो विरुद थे ।

मेरुतुङ्गने प्रबन्धचिन्तामणिमें लिखा है कि सिन्धुल वडा अबाध्य था, इसीसे उसका वडा भाई वाक्पति मुंज सदा उसपर शासन करता था । एक समय मुंजने छोटे भाईके बुरे व्यवहारोंसे दुःखी होकर उसे निकाल दिया, तब वह गुजरातमें आकरकाशह्रद * के समीप रहने लगा । कुछ दिनोंके पीछे फिर मालवेमें लौट आया, तो वाक्पति राजा मुंजने भाईके लौट आनेपर वडे आदरके साथ उसे अपने यहाँ रखलिया । किन्तु 'नीम न मीठी होय सींच गुड घीसे' इस कहावतके अनुसार मनुष्यका स्वभाव नहीं पलटता । इतने दिनोंके बाद आनेपरभी उसकी बुरी इच्छायें नहीं दूर हुई । तब उसके नेत्र निकालकर काठके पींजरेमें बंद कर दिया । इसी बन्दीदशामें भोजका जन्म हुआ । एक दिन ज्योतिषीने कहा था कि, भोज वडा होकर राजा होगा । इसको सुन मुञ्ज वडा दुःखी हुआ और शीघ्रही भोजके मारडालनेकी आज्ञा दी । उस समय भोज कुछ बडा होगया था और लिखना पढनाभी सीख गया था । राजाकी आज्ञा पालन करनेके पहलेही भोजने राजा मुञ्जके पास एक श्लोक लिखकर भेजा । श्लोकके पढतेही मुञ्जकी बुद्धि पलट गई और भोजको युवराजके पदपर सुशोभित किया ।

भोजप्रबन्धमें यह वात अन्यप्रकारसे लिखी है कि—

मुंजने राज्यसिंहासनपर बैठतेही पुराने मंत्री और कर्मचारियोंको हटाकर उनके स्थानपर नये मंत्री और कर्मचारी नियत किये, और सुखसे राज्य भोगने लगा । एक दिन ज्योतिषी आया और बोला कि, महाराज ! मुझे सर्वज्ञ कहते हैं अत एव आपभी कुछ पूछिये । तब राजाने कहा अच्छा जो २ मैंने जन्मसे लेकर आजतक काम किये हैं उन्हें कहो । तब ज्योतिषीने राजाके गुप्तसेभी गुप्त किये हुए कार्योंको कह सुनाया । राजाने ज्योतिषीका वडा सन्मान किया । उस समय मंत्री बुद्धिसागरने राजासे कहा

* इसको आज कल कासिन्द्र पालडी कहते हैं, और यह अहमदावादके समीप है ।

महाराज ! भोजकी जन्मपत्री ज्योतिषीजीको दिखाइये । राजाने भोजकी जन्मपत्री ज्योतिषीको देकर कहा इसका फल सुनाओ । ज्योतिषीने जन्मपत्र देखकर भोजको भी देखना चाहा । राजाने तुरन्त भोजको बुलाकर दिखा दिया । ज्योतिषीने भोजकी सूरत देख भोजको विदा करके कहा राजन् ! भोजके भाग्यका वर्णन ब्रह्माजीभी नहीं करसक्ते हैं तो मैं उदर भरनेवाला क्या वर्णन करूं ? लेकिन् आपकी आज्ञासे बुद्धिके अनुसार कुछ कहता हूँ ।

" पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि सप्तमासदिनत्रयम् ।
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः ॥ "

हे धाराधीश ! पचपन वर्ष, सात महीने और तीन दिनतक बंगाल और दक्षिण देशपर भोज राज्य करेगा ।

यह सुनतेही मुंजका मुख मलीन होगया । उसने ज्योतिषीको दक्षिणा देकर बिदा किया । फिर रात्रिमें शय्यापर जाकर लेटा तो नींद न आई । उसने सोचा कि जो राज्यलक्ष्मी भोजको प्राप्त हो जायगी तो मैं जीता हुआ मृतककी समान रहूंगा । इससे भोजहीको मार डालना चाहिये । प्रातः उठतेही वत्सराजमंत्रीको बुलाकर कहा कि, तुम आज संध्यासमय पाठशालासे भोजको लेजाकर भुवनेश्वरी देवीके समीप मारडालो और मस्तक मेरे पास लाओ । वत्सराजने सायंकालके समय पाठशालासे भोजको लेजाकर राजाकी आज्ञा सुनाई भोजने सुनकर वटवृक्षके दो पत्ते उठाये एकका दोना बनाया और अपनी जंघामेंसे छुरीके द्वारा रुधिर निकालकर दोना भरा और दूसरे पत्तेपर उस दोनेके रक्तसे तुनकेके द्वारा एक श्लोक लिखा । फिर वत्सराजके हाथमें देकर कहा कि, इसे राजाको दे देना । अब तुम अपने राजाकी आज्ञाका पालन करो । राजकुमार भोजके उस समय मुखचन्द्रको देख वत्सराजके छोटे भाईने कहा हे ज्येष्ठ सहोदर ! मरनेके उपरान्त माता, पिता, भाई, बन्धु, कुटुम्ब कबीला, इष्टमित्र, स्वामी और सेवक कोईभी सहायक नहीं होता उस समय केवल धर्मही मनुष्यके साथ जाताहै । मृत्यु जाति, आयु, रूप और रंग सभीको हरण करती है यह जानकरभी तुम्हारे हृदयमें दया नहीं आती ? जो वज्रकी समान हृदय करके इस सुकुमार बालकके शिर काटनेके

लिये तैय्यार हो ! यह सुनतेही वत्सराजके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होगया। फिर उन्होंने भोजको नहीं मारा। अधिक रात्रिके होजानेपर भोजको अपनें घर लेआये और तहखानेमें छिपा रक्खा, फिर चित्रकारोंको बुलाकर मोमके द्वारा भोजका मस्तक बनवाकर राजाके पास पहुँचाया। राजाने पुत्रका मस्तक देखकर पूछा कि, मरतेसमय पुत्रने क्या कुछ कहा था ? वत्सराजनें भोजका लिखा पत्र दे दिया राजाने दीपकके प्रकाशमें पत्रको पढा—

"मान्धातेति महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः।
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः॥
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते!।
नैकेनापि समं गता वसुमती मन्ये त्वया यास्यति॥ १॥

पत्रका मर्म समझतेही राजा मूर्च्छित होगया, जब चैतन्यता हुई तब भोजके लिये विलाप करने लगा। फिर सिन्धुलराजाका आदेश स्मरण आतेही व्याकुल होगया और प्राण त्यागनेका संकल्प करलिया। इसी समय एक योगी आया उसने राजासे कहा मैं आपके भतीजेको जीवित करदूंगा तुम चिंता मत करो। हवनकी सामग्री श्मशानमें शीघ्र भेज दीजिये मैं श्मशानमें जाता हूं। योगीकी आज्ञानुसार हवनकी सामग्री भेजी गई फिर थोडी देर पीछे भोजको साथ लेकर योगीने आकर राजासे कहा, राजन्! अपने भ्रातृ-पुत्रको ग्रहण कीजिये*। पुत्रको सन्मुख देखतेही राजाकी आंखोंसे आंसुओंकी धारा बहचली। फिर राजा मुंजने भोजको राज्यसिंहासनपर बिठाया और आप रानीको साथ ले प्रायश्चित्तरूपी तप करनेके लिये बनको चलागया।

(भोजप्रबन्ध)

---

१ हे राजन्! सत्युगका आभूषण राजा मान्धाता चलागया, सागरके पुलको बाँध रावणको मारनेवाले भगवान् रामचन्द्रजी कहां हैं, औरभी युधिष्ठिर आदि धर्ममूर्ति राजागण स्वर्गको सिधारगये परन्तु यह पृथ्वी किसीके भी साथ नहीं गई अब जान पडता है आप इस पृथ्वीको अपने साथ लेजाँयगे॥

* यह सब मंत्री बुद्धिसागरकी चतुराई थी।

वहुतसे प्रबन्धोंमें राजा मुंजके पीछे भ्रातृपुत्र भोजके राज्य पानेकी बात रहनेपरभी ठीक नहीं जान पडती । कारण पद्मगुप्तने नवसाहसांकचरितमें अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखकर समस्त घटनाओंको लिखा है और यह बात हम पहले कह आये हैं कि, पद्मगुप्तने वाक्पति राजा मुंजकी और उनके छोटे भाई सिन्धुराजकी सभाको भूषित करके राजकविकी उपाधि पाई थी। अतएव पद्मगुप्तकी बातकोही सत्य कहा जा सक्ता है । पद्मगुप्तने लिखा है कि, राजा मुंज अपना राज्य छोटे भाई सिन्धुराजको सौंपकर अम्बिकापुरमें चले गये थे । (११।९८) सिन्धुराजने कौशलेश, वागड, लाट और मुरलोंको जीता था। (१० । १४ । २०) इनके सिवाय सिन्धुराजने नर्मदाके एक सौ दश कोशपर विराजमान रत्नवती नामक स्थानमें वज्रांकुशको मार स्वर्णपद्मके साथ नागराजकी कन्या शशिप्रभाको प्राप्त किया था। उदयपुरप्रशस्तिमेंभी लिखा है कि, सिन्धुराजने हूणराजको जीता था।

सिन्धुराजके बडे भाई मुंजकी कैसे मृत्यु हुई, और किस समय सिन्धुराजने राज्यसिंहासन पाया, यह बात पद्मगुप्तने नहीं लिखी और न किसी प्रशस्तिमें लिखी है। मेरुतुङ्गने प्रवंधचिन्तामणिमें लिखा है कि, प्रधान मंत्री रुद्रादित्यकी सलाहसे वाक्पति राजा मुञ्जने तैलपराज्यको जीतनेके लिये चढाई की, गोदावरीके पार जाकर तैलपकी राजसीमामें पहुँच तैलपके द्वारा हारकर बंदी हुए । चिरकालतक जेलखानेमें रहनेके पीछे वह जेलखानेसे निकल भागे, तो फिर पकडेजाकर जानसे मारे गये । चालुक्यराज दूसरे तैलपके शिलालेखमें भी वाक्पति मुञ्जके हारनेकी वात लिखी है । अमित गतिके सुभाषित रत्नसन्दोह ग्रंथके उपसंहारमें लिखा है कि, १०५० विक्रमीय संवत्में (९९३–९४ ईसवीमें) मुञ्जके राज्य करतेसमय उक्त ग्रंथ बना है । इधर चालुक्य वंशावलीसे जाना जाता है कि, दूसरे तैलपकी ९१९ शकाब्दमें (९९७–९८ ईसवीमें) मृत्यु हुई । इस प्रकारसे ९९५ से ९९७ ईसवीके बीचमें वाक्पति मुंजकी मृत्यु और सिन्धुराजके राज्य पानेका समय निश्चित हो सक्ता है ।

सिन्धुराजके बाहुबलका और अनेक स्थानोंके जीतनेका विवरण पढनेसे अन्तमें यही जाता जाना है कि, उन्होंने ७।८ वर्षतक राज्य किया ।

कविवर पद्मगुप्तने सिन्धुराजके पराक्रम और राज्यसमृद्धिका तो विशेष वर्णन कियाहै, परन्तु उनके पुत्र भोजराजका नामतक नहीं लिखा । इसका कारण यही जान पडता है कि, या तो उस समय भोजका जन्महीं नहीं हुआ था वा भोज उस समय छोटा बालक था इस ध्यानसे भोजके नामको लिखना कविने नहीं विचारा ।

उदयपुरप्रशस्तिमें भोजके शूर, वीर, प्रतापी और विद्वान् होनेका परिचय मिलताहै । इन प्रशस्तिमें लिखा है कि, "कविराज श्रीभोजकी और अधिक क्या प्रशंसा करूं ? उन्होंने जो साधन किया है, जो विधान किया है, जो लिखा पढाहै, जो जाना है वह दूसरे मनुष्योंकी शक्तिके बाहर है । चेदिराज इन्द्ररथ, तोग्गल और भीमप्रमुख कर्नाट, लाट, गुर्जरपति और तुरुष्कगण जिनके सेवकसे पराजित हुए थे । जिनको मौल सूरगण अपना २ बाहुबल विचारते और दूसरे योद्धाओंकी वीरताको कभी मनमेंभी नहीं लातेथे । केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुण्डीर, काल, अनल और रुद्रादिके देवालय स्थापित करके उन्होंने संसारमें 'जगती' नामसे अक्षय कीर्ति प्राप्त की ।" *

भोजराजने जो कर्नाटपर आक्रमण किया था वह कल्याणके तीसरे चालुक्यराज जयसिंहके ९४१ शकमें (१०१९–२० ईसवीमें) उत्कीर्ण शिलालिपिसेभी जानाजाताहै । किन्तु इस शिलालिपिमें भोजराजकी पराजय लिखी है । १०११ ईसवींमें यह घोर युद्ध हुआ था । गुर्जरपति चौलुक्य भीमके साथ (१०२१–१०६३ ईसवींमें) भोजके युद्धकी बात प्रबन्धचिन्तामणिमेंभी लिखी है । मेरुतुंग लिखता है कि, "जिस समय भीम, सिन्धुके जीतनेमें लीन थे उस समय भोजराजने कुलचन्द्रनामक

---

* "साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित् ।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते ॥
चेदीश्वरेन्द्ररथतोग्गलभीममुख्यान्कर्णाटलाटपतिगुर्जरराट्तुरुष्कान् ।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलोक्य मौला दोष्णां बलानि कलयन्ति न योद्धलोकान् ॥
केदाररामेश्वरसोमनाथसुण्डीरकालानलरुद्रसंज्ञैः ।
सुराश्रयैर्व्याप्य च यः समन्ताद्यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार ॥"
(उदयपुरप्रशस्ति १८ से २० श्लोक)

एक दिगम्बर (जैन) को सेना लेकर अनहिलवाडेमें भेजा था । राजधानी शत्रुओंसे जीतकर कुलचन्द्र जयपत्र लेकर मालवेमें लौटआया । " महाकवि बिह्लणने ' विक्रमांकदेवचरित ' नामक ऐतिहासिक काव्यमें लिखाहै कि, विक्रमांकके पिता दूसरे सोमेश्वरने (१०४३ से १०६८-६९ ईसवीतक) अपने प्रचंड प्रतापसे धारानगरीपर अधिकार किया उस समय भोजराज धारानगरीको छोडकर भाग गये थे । (११९१-९४)

यह बात प्रसिद्ध है कि, भोजकी पुत्री भानुमतीके साथ विक्रमार्कका विवाह हुआ था । अनेक ऐतिहासिक तत्ववेत्ता यह कहते हैं कि, जब भोज विक्रमार्कके पितासे हार गया था उससमय भोजकी पुत्री भानुमतीसे विक्रमार्कका विवाह हुआ ।

सुलतान मुहम्मदका सोमनाथजीके मंदिरपर आक्रमण करना भारतके इतिहासमें प्रसिद्ध है । परम शैव भोजराजने उस देवमंदिरकी रक्षाके लिये सुलतान मुहम्मदसे घोर युद्ध कियाथा । प्रशस्तिमें उसीको तुरष्कसमरके नामसे लिखा है ।

भोजराज केवल देवभक्त और पराक्रमी राजाही नहीं थे वरन् वह अपने पिता और ताऊसे बढकर महाकवि, महापण्डित और पण्डितमण्डलीके प्रतिपालक भी थे । भोजप्रबंधमें देखा जाता है कि, सैकडों कवियोंने भोजकी सभाको सुशोभित किया और भोजराजने कविता सुनकर प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये प्रसन्न होकर विद्वानोंको दिये । उनकी सभाके कविमंडलमें सबसे ऊंचा आसन महाकवि कालिदासजीका था, महाकवि कालिदासके सिवाय औरभी भवभूति, दंडी, वररुचि, बाण, मयूर आदि कवियोंसे उनकी सभा शोभित रहती थी । इन कवियोंके अतिरिक्त साक्षात् सरस्वतीकी मूर्त्ति विदुषी और कविस्त्रियोंसेभी भोजराजकी सभा अलंकृत थी । स्त्रीकविसमाजमें सीताका आसन सबमें ऊँचा था । भोजराजकी प्रधान रानी लीलादेवीभी परमविदुषी और कवि थी । यादवसिंहके समयकी शिलालिपिको पढनेसे जाना जाता है कि, प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् भास्कराचार्यके वृद्ध पितामह भास्करभट्टने भोजराजसे ' विद्यापति ' की उपाधि पाई थी ।

धर्म्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, काव्य, अलंकार और ज्योतिष शास्त्रादि सभीकी भोजकी सभामें आलोचना होती थी। देशदेशान्तरोंके वृद्ध पूर्वपरिपाटीके पण्डितोंका कथन है कि, भोजकी सभामेंही सब शास्त्रोंपर भाष्य और निवन्ध बने थे, उनमें 'कामधेनु' ग्रंथहीको प्रधान जानो। आजकल महाराजाधिराज भोजराजके बनाये सरस्वतीकण्ठाभरण, राजमार्तण्ड नामसे योगसूत्रका भाष्य, राजमार्त्तण्ड, राजमृगांककरण और विद्वज्जनवल्लभ नामक ज्योतिषशास्त्रके ग्रंथ समराङ्गणनामक वास्तुशास्त्र और श्रृङ्गारमंजरीकथा नामक खंडकाव्य पाये जाते हैं।

इनके सिवाय भोजराजके नामसे निम्नलिखित ग्रंथ प्रचलित है:—आदित्यप्रतापसिद्धान्त (ज्योतिष), आयुर्वेदसर्वस्व (वैद्यक), चम्पूरामायण, चारुचर्य्या (धर्म्मशास्त्र), तत्त्वप्रकाश (शैव), विद्वज्जनवल्लभ प्रश्नचिन्तामणि, विश्रान्तविद्याविनोद (वैद्यक), व्यवहारसमुच्चय (धर्म्मशास्त्र), शब्दानुशासन, शालिहोत्र, शिवदत्तरत्नकलिका, समराङ्गणसूत्रधार, सिद्धान्तसंग्रह (शैव) और सुभाषितप्रवंध।

अनेक विद्वान् उपरोक्त ग्रंथोंको भोजराजकी सभाके पण्डितोंके बनाये मानते हैं।

केवल उपरोक्त ग्रंथोंके द्वाराही भोजराजका नाम संसारमें प्रसिद्ध हुआ यही नहीं वरन् अनेक शास्त्रकार अपने २ ग्रंथोंमें भोजका मत वा श्लोक उद्धृत करके उनके नामको सदाके लिये स्मरणीय कर गये हैं। उनमें शूलपाणि, दशबल, अल्लाडनाथ और स्मार्त्त रघुनन्दन भट्टाचार्यने भोजराजका नाम निबन्धके रूपमें चिरस्मरणीय कियाहै। भावप्रकाश और माधवने रोगके निदानमें वैद्यक ग्रंथकारके रूपमें; केशवार्कने ज्योतिषशास्त्रकारके रूपमें; क्षीरस्वामी, सायण और महीपने आभिधानिक एवं वैय्याकरणके रूपमें; चित्तप, देवेश्वर, विनायक और कवियोंने कविके रूपमें भोजराजके नामको उद्धृत कर सदाके लिये स्मरणीय किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पतिमिश्रने अपनी तत्त्वकौमुदी नामक ग्रंथमें 'भोजराजवार्तिक' उद्धृत किया है। वल्लालपण्डितके सिवाय मेरुतुंग आचार्य राजवल्लभ, वत्सराज, वल्लभ, सुन्दर मुनेके शिष्य शुभशीलप्रभृति

पण्डित्तोंने ' भोजप्रबंध ' लिखकर भोजराजके चरित्रोंका वखान कियाहै । इन सब प्रबंधोंमें भोजराजकी कीर्त्तिका विकाश और माहात्म्य विशेषरूपसे वर्णित हुआ है ।

उदयपुरप्रशस्ति, नागपुरप्रशस्ति, वडनगरप्रशस्ति, कीर्त्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्त्तन और प्रबंधचिन्तामणिकी आलोचना करनेसे जाना जाता है कि, चेदिराज, कर्ण और गुर्जरपति चौलुक्य भीमके साथ युद्धभूमिमें भोजराजाकी मृत्यु हुई और धारानगरी शत्रुओंके हाथमें गई । उदयपुरप्रशस्तिमें लिखा है कि, भोजराजके सुयोग्य पुत्र उदयादित्यने नष्ट हुए गौरवका उद्धार किया था । प्रायः १०१० ईसवीसे १०४२ ईसवीतक भोजराजने धारानगरी और मालवेमें राज्य किया था इन्हीं भोजराजको ' भोजविद्या ' प्रवर्त्तक कहते हैं ।

अन्तमें हम **खेमराज श्रीकृष्णदासजीको** कोटिशः धन्यवाद देते हैं कि, जिन्होंने हिन्दीसाहित्यका जीर्णोद्धार करके आप लोगोंके सन्मुख लगभग ३९०० ग्रंथ सकलशास्त्रोंके छापकर प्रस्तुत किये हैं और वडे यत्नके साथ विद्वानोंके द्वारा ग्रंथ सदा तैय्यार कराते रहते हैं ।

आपलोगोंका चिरपरिचित—
हिन्दीसाहित्यसेवी,
श्यामसुन्दरलाल त्रिपाठी;
गुलाबनगर-बाँसबरेली.

॥ श्रीः ॥

अथ भोजप्रबन्धः

भाषाटीकासहितः ।

श्रीगणेशाय नमः । स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजस्य भोजराजस्य प्रबंधः कथ्यते । आदौ धाराराज्ये सिंधुलसंज्ञो राजा चिरं प्रजाः पर्यपालयत् । तस्य वृद्धत्वे भोज इति पुत्रः समजनि । स यदा पंचवार्षिकस्तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यानाहूय अनुजं मुंजं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास । यद्यहं राजलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छामि तदा लोकापवादः । अथवा बालं मे पुत्रं मुंजो राज्यलोभाद्विषादिना मारयिष्यति । तदा दत्तमपि राज्यं वृथा । पुत्रहानिर्वंशोच्छेदश्च ॥

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज राजा भोजके प्रबंधको कहते हैं । प्रथम धारानामकी राजधानीमें सिंधुलनामक राजाः चिरकालतक प्रजाका पालन करता भया । उसके वृद्धावस्थामें ' भोज ' नामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ । जब भोजकी पाँच वर्षकी अवस्था हुई तब राजाने अपनी शिथिल अवस्था जानकर मुख्य मन्त्रीको बुलाय महाबली छोटे भाई मुंजको देख और पुत्रको बालक देख विचार किया । यदि मैं राज्यलक्ष्मीका भार धारण करने-योग्य भाईको त्याग पुत्रको राज्य दूंगा, तो संसारमें निन्दा होगी । अथवा मेरे बालक पुत्रको, भाई मुंज राज्यके लोभसे विष-आदिके द्वारा मार डालेगा, तो (पुत्रको) दिया राज्य भी वृथा होगा । एवं पुत्रकी हानि होगी और वंश नष्ट होजायगा ॥

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च ॥
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥ १ ॥

लोभ पापकी जड है, लोभसे पाप उत्पन्न होताहै और लोभहीसे द्वेष, क्रोधादि उत्पन्न होतेहैं अतएव लोभ ही पापका कारण है ॥ १ ॥

लोभात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते ॥
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥ २ ॥

लोभसे क्रोध और क्रोधसे द्रोह उत्पन्न होता है, द्रोहके करनेसे शास्त्रके मर्मको जाननेवाला विद्वान्भी नरकमें जाता है ॥ २ ॥

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ॥
लोभाविष्टो नरो हंति स्वामिनं वा सहोदरम् ॥ ३ ॥

लोभी मनुष्य माता, पिता, पुत्र, भ्राता, मित्र, स्वामी और सहोदर भाईको भी मार डालता है ॥ ३ ॥

इति विचार्य राज्यं मुंजाय दत्त्वा तदुत्संगे भोजमात्मजं मुमोच । ततः क्रमाद्राजनि दिवं गते संप्राप्तराज्यसम्पत्तिर्मुञ्जो मुख्यामात्यं बुद्धिसागरनामानं व्यापारमुद्रया दूरीकृत्य तत्पदे अन्यं स्थापयामास । ततो गुरुभ्यः क्षितिपालपुत्रं वाचयति । ततः क्रमेण सभायां ज्योतिःशास्त्रपारंगतः सकलविद्याचातुर्यवान् ब्राह्मणः समागमत् । राज्ञे स्वस्तीत्युक्त्वा उपविष्टः । स चाह- देव ! लोकोऽयं मां सर्वज्ञं वक्ति तत्किमपि पृच्छ ॥

यह विचारकर राज्य मुंजको दे, मुंजकी गोदमें अपने पुत्र भोजको बिठाल दिया । अनन्तर कुछ दिनोंके पीछे राजा स्वर्गको सिधारे । तब राज्यसंपत्तिको पाकर मुंजने अपने बुद्धिसागरनामक प्रधान मंत्रीको मंत्रीके पदसे हटाकर अन्य पुरुषको मंत्री बनाया । फिर गुरुजनोंके द्वारा 'राजा' कहाने लगा । इसके उपरान्त सभामें ज्योतिषी समस्त विद्याओंमें चतुर एक ब्राह्मण

आया और राजासे ' कल्याण हो ' यह कहकर बैठगया । (फिर) उस ब्राह्मणने राजासे कहा हे देव ! जगत्में मुझे सर्वज्ञ कहते हैं, अतएव आप कुछ पूंछिये ॥

कंठस्था या भवेद्विद्या सा प्रकाश्या सदा बुधैः ॥
या गुरौ पुस्तके विद्या तया मूढः प्रतार्यते ॥ ४ ॥

कंठमें स्थित विद्याको विद्वान् सदा प्रकाश करते हैं, गुरुदेवमें और पुस्तकमें स्थित विद्यासे मूर्खोंको निवारण किया जाता है ॥ ४ ॥

इति राजानं प्राह ।

यह राजासे कहा ।

ततो राजापि विप्रस्याहंभावमुद्रया चमत्कृतां तद्वार्तां श्रुत्वा अस्माकं जन्मत आरभ्यैतत्क्षणपर्यंतं यद्यन्मयाचरितं यद्यत्कृतं तत्सर्वं वदसि यदि भवान्सर्वज्ञ एवेत्युवाच । ततो ब्राह्मणोऽपि राज्ञा यद्यत्कृतं तत्सर्वमुवाच गूढव्यापारमपि । ततो राजापि सर्वाण्यभिज्ञानानि ज्ञात्वा तुतोष । पुनश्च पंचषट्पदानि गत्वा पादयोः पतित्वा इंद्रनीलपुष्परागमरकतवैडूर्यखचितसिंहासन उपवेश्य राजा प्राह—

तो राजा भी ब्राह्मणके अहङ्कारयुक्त चमत्कारी वचनोंको सुनकर बोला कि, जन्मसे लेकर आजतक जो मैंने आचरण किया है और कार्य किया है उसको यदि आप कहदें तो आप (निश्चय) सर्वज्ञ हो । (राजाके ऐसे वचन सुन) ब्राह्मणने उसी समय राजाके समस्त कियेहुए गुप्तसे भी गुप्त कर्मोंको कह दिया । फिर राजा ब्राह्मणको सर्वज्ञ जानकर प्रसन्न हुआ । और पांच छः पग चलकर राजाने उस ब्राह्मणके चरणोंमें गिरकर इन्द्रनीलमणि, पुष्पराग, मरकतमणि और वैदूर्य मणियोंसे जडे हुए राजसिंहासनपर उस ब्राह्मणको बिठाकर कहा—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते कांतेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ॥ कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥ ५ ॥

विद्या माताकी समान रक्षा करती ह, पिताकी समान हित करनेमें लगी रहती है, स्त्रीकी समान खिन्न मनको प्रसन्न करती है, दिशाओंमें निर्मल कीर्तिको फैलाती है और धनको बढाती है, कल्पलताकी समान विद्या (मनुष्यका) क्या २ साधन नहीं करती है अर्थात् सभी मनोरथ सिद्ध करती है ॥ ५ ॥

ततो विप्रवराय दशाश्वानाजानेयान् ददौ । ततः सभायामासीनो बुद्धिसागरः प्राह राजानम् । देव भोजस्य जन्मपत्रिकां ब्राह्मणं पृच्छेति । ततो मुंजः प्राह । भोजस्य जन्मपत्रिकां विधेहीति । ततोऽसौ ब्राह्मण उवाच । अध्ययनशालाया भोज आनेतव्य इति । मुंजोऽपि ततः कौतुकादध्ययनशालामलंकुर्वाणं भोजं भटैरानाययामास । ततः साक्षात्पितरमिव राजानमानम्य सविनयं तस्थौ । ततस्तद्रूपलावण्यमोहिते राजाकुमारमंडले प्रभूतसौभाग्यं महीमंडलमागतं महेंद्रमिव साकारं मन्मथमिव मूर्तिमत् सौभाग्यमिव भोजं निरूप्य राजानं प्राह दैवज्ञः । राजन् ! भोजस्य भाग्योदयं वक्तुं विरिंचिरपि नालं कोऽहमुदरंभरिर्ब्राह्मणः । किंचित् तथापि वदामि स्वमत्यनुसारेण । भोजमितोऽध्ययनशालायां प्रेषय । ततो राजाज्ञया भोजे ह्यध्ययनशालां गते विप्रः प्राह—

फिर ब्राह्मणके लिये (राजाने) दश उत्तम घोडे दिये । सभामें बैठे हुए बुद्धिसागर नामक (मंत्री) ने राजासे कहा, हे देव !, भोजकी जन्मपत्री दिखाकर ब्राह्मणसे पूछो । फिर राजाने (ब्राह्मणसे कहा) भोजकी जन्म-

पत्रीको विचारिये (ब्राह्मणने कहा) भोजको पाठशालासे बुलाइये । तब महाराज मुंजने पाठशालाको भूषित करतेहुए भोजको शूरवीरके द्वारा आनन्दसे बुलाया । तब (भोजने आकर) अपने चचाको पिताकी समान प्रणाम किया और विनयके साथ खडा होगया । भोजके रूपकी लावण्यतासे और राजकुमारके मुखमंडलकी कान्तिसे (सभी मोहित होगये) सौभाग्यशाली इन्द्र पृथिवीपर आगये अथवा कामदेव मूर्ति धारण कर सभामें आगये इस भाँति भोजको देख उस ज्योतिषी ब्राह्मणने राजासे कहा । हे राजन् ! भोजके भाग्यका वर्णन ब्रह्माजी भी नहीं करसक्ते, फिर उदर पूर्ण करनेवाला मैं ब्राह्मण क्या कहूं । तौभी अपनी बुद्धिबलके अनुसार कहता हूँ । भोजको पाठशालामें भेजदीजिये । तब राजाकी आज्ञासे भोज पाठशालाको चला गया, तो ब्राह्मणने कहा—

पंचाशत्पंच वर्षाणि सप्तमासदिनत्रयम् ॥
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः ॥ ६ ॥

पचपन वर्ष, सात महीने और तीन दिनतक गौडदेशके साथ दक्षिणापथपर (बंगालके साथ दक्षिणपर) भोज राज्य करेगा ॥ ६ ॥

इति तत्तदाकर्ण्य राजा चातुर्यादपहसन्निव सुमुखोऽपि विच्छायवदनोऽभूत् । ततो राजा ब्राह्मणं प्रेषयित्वा निशीथे स्वशयनमासाद्य एकाकी सन्व्यचिंतयत् । यदि राजलक्ष्मीर्भोजकुमारं गमिष्यति तदाहं जीवन्नपि मृतः ॥

इन बातोंको सुन चतुराईसे हँसते हुएकी समान प्रसन्नमुख रहनेपरभी मुंजकी कान्ति जाती रही । फिर ब्राह्मणको विदा करके आधीरातके समय शय्यामें विराजमान होकर चिन्ता करने लगा । जो राज्यलक्ष्मी कुमार भोजको प्राप्त हो जायगी तो मैं जीवन्मृतकी समान रहूँगा ।

तानींद्रियाण्यविकलानि तदेव नाम । सा बुद्धिरप्रतिहता

वचनं तदेव ॥ अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन ।
सोऽप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत् ॥ ७ ॥

बडे आश्चर्यकी बात है कि जब मनुष्य धनहीन हो जाता है तब वेही स्वस्थ इन्द्रियें, वही नाम, वही अप्रतिहत बुद्धि और वही वचन रहनेपरभी मनुष्य दूसरासा प्रतीत होने लगता है ॥ ७ ॥

किंच—शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः ॥
बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किंचन दुष्करम् ॥ ८ ॥

शरीरकी अपेक्षा न करनेवाले, चतुर, व्यवसायी और बुद्धिसे कार्य करनेवाले (मनुष्य) को कुछ भी दुष्कर नहीं है ॥ ८ ॥

असूयया हतेनैव पूर्वोपायोद्यमैरपि ॥
कर्तॄणां गृह्यते सम्यक् सुहृद्भिर्मंत्रिभिस्तथा ॥ ९ ॥

असूयाके साथ हत होनेसे और पहले उपायके उद्यमोंसे कार्य करनेवाले राजादिकोंकी आज्ञाको मित्र और मंत्री मानते हैं ॥ ९ ॥

ततोऽद्य मे किं दुःसाध्यम् ॥

तो उद्यम करनेसे मुझे क्या दुःसाध्य है ।

अतिदाक्षिण्ययुक्तानां शंकितानां पदे पदे ॥
परापवादभीरूणां दूरतो यांति संपदः ॥ १० ॥

परम चतुर, पग २ पर शंका करनेवाले और दूसरोंकी निन्दासे काँपनेवाले पुरुषोंको दूरसेही सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ १० ॥

किंच—आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ॥
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति संपदः ॥ ११ ॥

लेनेके, देनेके और करने योग्य कार्यको मनुष्य शीघ्रही करै, नहीं करनेसे उनकी सम्पत्तिको काल नष्ट करता है ॥ ११ ॥

अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः ॥
स्वार्थं समुद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ १२ ॥

अपमानको सम्मुख और मानको पीछे कर विद्वान् अपने कार्यको साधन करै, कार्यका बिगाडनाही मूर्खता है ॥ १२ ॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ॥
एतदेवातिपांडित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिसाधनम् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अल्प कार्यके लिये बहुत (धनादि) को नष्ट न करे, बुद्धिमानी इसीमें है कि थोडे कार्यसे बडे कार्यको सिद्ध करले ॥ १३ ॥

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं वा प्रशमं नयेत् ॥
अतिपुष्टांगयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ १४ ॥

जो उत्पन्न होतेही शत्रु और व्याधिको नष्ट नहीं करते वह अत्यन्त पुष्ट शरीरवाले होनेपर भी शत्रु और व्याधिके द्वारा मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १४ ॥

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यंति संहताः ।
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारयः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार छतरी लगाये मनुष्यकी जलकी धारा कुछ नहीं करती उसी प्रकार बुद्धिसे रक्षा करनेवालेका शत्रु कुछ नहीं कर सक्ते हैं ॥ १५ ॥

अफलानि दुरंतानि समव्ययफलानि च ॥
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः ॥ १६ ॥

जिनसे कुछ फल न हो, जो कठिनतासे सिद्ध हों, जिनमें लाभ और हानि समान हों, जो सिद्ध न होसकें ऐसे कार्य विद्वानोंको नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

ततश्चैवं विचिंतयन्नभुक्त एव दिनस्य तृतीये यामे एक एव मंत्रयित्वा वंगदेशाधीश्वरस्य महाबलस्य वत्सराजस्य आकारणाय स्वमंगरक्षकं प्राहिणोत् । स चांगरक्षको वत्सराजमुपेत्य प्राह । राजा त्वामाकारयतीति । ततः स्वरथमारुह्य परिवारेण परिवृतः समागतो रथादवतीर्य राजानमवलोक्य प्रणिपत्योपविष्टः । राजा च सौधं निर्जनं विधाय वत्सराजं प्राह—

फिर इस भाँतिसे चिन्ताकरके राजा मुञ्जने दिनके तीसरे पहर स्वयंही निश्चय किया, अंगदेशाधिपति महाबली वत्सराजको बुलानेके लिये अपने शरीरकी रक्षा करनेवाले निज दूतको भेजा। उस अंगरक्षकने वत्सराजके पास जाकर कहा कि आपको राजा बुलाते हैं। तब वत्सराज अपने रथमें बैठ परिवारके साथ आया (और) रथसे उतर राजाको देख प्रणाम करके बैठगया। तब राजाने सब मनुष्योंको हटाकर वत्सराजसे कहा-

राजा तुष्टोऽपि भृत्यानां मानमात्रं प्रयच्छति ॥
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ १७ ॥

राजा प्रसन्न होकर सेवकोंको मानमात्र देते हैं, उससे सम्मानको प्राप्त हो सेवक तो अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर स्वामीका उपकार करते हैं॥ १७ ॥

ततस्त्वया भोजो भुवनेश्वरीविपिने हंतव्यः प्रथमयामे निशायाः। शिरश्चांतःपुरमानेतव्यमिति। स चोत्थाय नृपं नत्वाह-

अतएव तुम रात्रिके पहले पहरमें भोजको भुवनेश्वरीके वनमें मार डालो। शिरको महलोंमें लाना। तो वत्सराज खडा होकर राजाको प्रणाम करके बोला-

देवादेशाः प्रमाणम्। तथापि भवल्लालनात्किमपि वक्तुकामोऽस्मि। ततः सापराधमिति मे वचः क्षंतव्यम् ॥

हे देव! मैं आपकी आज्ञाको शिरोधार्य करता हूँ, तोभी आपके लाड लडानेसे कुछ कहना चाहता हूँ। इससे अपराधयुक्त मेरे वचनोंको क्षमा करना।

भोजे द्रव्यं न सेना वा परिवारो बलान्वितः ॥
परं पोत इवास्तेऽद्य स हंतव्यः कथं प्रभो ॥ १८ ॥

हे प्रभो! जब भोजके पास द्रव्य, सेना और परिवारका बल नहीं है, तो दीन भोजको कैसे मारना उचित है॥ १८ ॥

पारंपर्य इवासक्तस्त्वत्पाद उदरंभरिः ॥
तद्वधे कारणं नैव पश्यामि नृपपुंगव ॥ १९ ॥

हे नृपपुङ्गव ! जो आपहीके चरणोंमें स्थित होकर अपने उदरको भरता है उस भोजके मारनेमें कोई कारण नहीं देखता हूँ ॥ १९ ॥

ततो राजा सर्वं प्रातः सभायां प्रवृत्तं वृत्तमकथयत् । स च श्रुत्वा हसन्नाह—

तब राजाने वत्सराजसे प्रातःकालकी सभाका समस्त वृत्तान्त कहा । उसको सुनकर (वत्सराजने) हँसकर कहा ।

त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः ॥
तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत् ॥ २० ॥

ब्रह्माजीके पुत्र वशिष्ठजीने त्रिलोकीनाथ रामचन्द्रजीके राज्याभिषेकका मुहूर्त्त बताया था ॥ २० ॥

तन्मुहूर्तेन रामोऽपि वनं नीतोऽवनीं विना ॥
सीतापहारोऽप्यभवद्विरिंचिवचनं वृथा ॥ २१ ॥

तिस मुहूर्त्तने रामचन्द्रजीको पृथ्वीका राजा न बनाकर वनमें निकाल दिया, वनमें जाकर सीताहरण हुआ इससे ब्रह्माजीका भी वचन वृथा हुआ ॥ २१ ॥

जातः कोऽयं नृपश्रेष्ठ किंचिज्ज्ञ उदरंभरिः ॥
यदुक्त्या मन्मथाकारं कुमारं हंतुमिच्छसि ॥ २२ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! उदरको भरनेवालेके कुछ जाननेपरभी क्या हो सक्ता है जो आप उसके वचनपर श्रद्धा करके कामदेवकी समान कुमारके मारनेकी अभिलाषा करते हो ॥ २२ ॥

किंच—किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ॥
इति संचिन्त्य मनसा प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा ॥ २३ ॥

इसके करनेसे मेरा क्या होगा और न करनेसे मेरा क्या होगा इस भाँति मनमें विचारकर बुद्धिमान् मनुष्य कार्य करते हैं और नहीं भी करते हैं अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष प्रथम कार्यके फलको विचाकरही काम करते हैं ॥ २३ ॥

उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन ॥ अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ २४ ॥

उचित हो वा अनुचित हो जिस कार्यको करो प्रथम उसका परिणाम सोच लो विना परिणाम जाने जल्दीसे जो काम किया जाता है, विपत्तिसे हृदयको जलानेवाले शल्यकी समान उसका दुःखद फल होताहै ॥ २४ ॥

किंच—येन सहासितमशितं हसितं कथितं च रहसि विस्रब्धम् ॥ तं प्रति कथमसतामपि निवर्त्तते चित्तमामरणात् ॥ २५ ॥

जिसके साथमें बैठा, खाया, हँसा, बोला और इकलेमें विश्वास किया जाता है उससे दुष्ट मनुष्योंकाभी चित्त मृत्युकालतक कैसे हटता है ॥ २५ ॥

किंच अस्मिन्हते वृद्धस्य राज्ञः सिंधुलस्य परमप्रीतिपात्राणि महावीरास्तवैवानुमते स्थिताः त्वन्नगरमुल्लोलकल्लोलाः पयोधरा इव प्लावयिष्यंति चिरादृढमूलेऽपि त्वयि प्रायः पौरा भोजं भुवो भर्तारं भावयंति ॥

इसके मारडालनेसे सिंधुल राजाके बडे प्यारे जो शूरवीर तुम्हारी आज्ञामें स्थित हैं वेही तुम्हारी राजधानीको इस प्रकार नष्ट करदेंगे, जिस प्रकार घोर मेघ अति वर्षाकर नगरको डुबोकर नष्ट कर डालते हैं। यद्यपि चिरकालसे तुम्हारी जड दृढ हो रही है तोभी नगरनिवासी भोजपरही पृथ्वीका भार मानते हैं ॥

किंच—सत्यपि सुकृतकर्मणि दुर्नीतिश्चेच्छ्रियं हरत्येव ॥ तैलैः सदोपयुक्तां दीपशिखां विदलयति हि वातालिः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ कर्ममें यदि दुर्नीतिका व्यवहार हो तो लक्ष्मीकी शोभा जाती रहती है, जैसे तेलसे पूर्ण दीपकी शिखाको प्रबल वायु नष्ट करदेता है ॥ २६ ॥

देव ! पुत्रवधः क्वापि न हिताय इत्युक्तं वत्सराजवचनमाकर्ण्य राजा कुपितः प्राह त्वमेव राज्याधिपतिः न तु सेवकः ॥

हे देव ! पुत्रका वध किसीकोभी हितकारी नहीं है, इस भाँतिं वत्सराजके वचनोंको सुन राजाने क्रोधके साथ कहा, तुम्हीं राज्यके अधिपति हो, सेवक नहीं हो ? ॥

स्वाम्युक्ते यो न यतते स भृत्यो भृत्यपाशकः ॥
तज्जीवनमपि व्यर्थमजागलकुचाविव ॥ २७ ॥ इति ।

स्वामीके वचनका जो पालन नहीं करता वह सेवक सब सेवकोंमें नीच है और उसका जीवनभी बकरीके गलेमें लटकते हुए मांसकी समान वृथा है २७.

ततो वत्सराजः कालोचितमालोचनीयमिति मत्वा तूर्ष्णीं बभूव । अथ लंबमाने दिवाकरे उत्तुंगसौधोत्संगादवतरंतं कुपितामिव कृतांतं वत्सराजं वीक्ष्य समेता अपि विविधेन मिषेण स्वभवनानि प्रापुर्भीताः सभासदः । ततः स्वसेवकान्स्वागारपरित्राणार्थं प्रेषयित्वा रथं भुवनेश्वरीभवनाभिमुखं विधाय भोजकुमारोपाध्यायाकारणाय प्राहिणोदेकं वत्सराजः । स चाह पंडितम् । तात ! त्वामाकारयति वत्सराज इति सोऽपि तदाकर्ण्य वज्राहत इव भूताविष्ट इव ग्रहग्रस्त इव तेन सेवकेन करेण धृत्वानीतः पंडितः । तं च बुद्धिमान् वत्सराजः सप्रणाममित्याह । पंडित तात ! उपविश, राजकुमारं जयंतमध्ययनशालाया आनयेति । आयांतं जयंतं कुमारं किमप्यधीतं पृष्ट्वाप्रैषीत् । पुनः प्राह पंडितं विप्र ! भोजकुमारमानयेति । ततो विदितवृत्तांतो भोजः कुपितो ज्वलन्निव शोणितेक्षणः समेत्याह । आः पाप ! राज्ञो मुख्यकुमारं एकाकिनं मां राजभवनाद् बहिरानेतुं तव का नाम शक्तिरिति वामचरणपादुकामादाय,

भोजेन तालुदेशे हतो वत्सराजः । ततो वत्सराजः प्राह—भोज ! वयं राजादेशकारिण इति बालं रथे निवेश्य खड्गमपकोशं कृत्वा जगामाशु महामायाभवनम् । ततो गृहीते भोजे लोकः कोलाहलं चक्रुः । हुंभावश्च प्रवृत्तः किं किमिति ब्रुवाणा भटा विक्रोशंत आगत्य सहसा भोजं वधाय नीतं ज्ञात्वा हस्तिशालामुष्ट्रशालां वाजिशालां रथशालां प्रविश्य सर्वान् जघ्नुः । ततः प्रतोलीषु राजभवनप्राकारवेदिकासु बहिर्द्वारविटंकेषु पुरसमीपेषु भेरीपटहमुरजमड्डुकडिंडिमनिनदाडंबरेणांबरं विडंबितमभूत् । केचिद्विमलासिना केचिद्विषेण केचित्कुंतेन केचित् पाशेन केचिद्वह्निना केचित्परशुना केचिद्भल्लेन केचित्तोमरेण केचित्प्रासेन केचिदंभसा केचिद्दारायां ब्राह्मणयोषितो राजपुत्रा राजसेवका राजानः पौराश्च प्राणपरित्यागं दधुः । ततः सावित्रीसंज्ञा भोजस्य जननी विश्वजननीव स्थिता दासीमुखात् स्वपुत्रस्थितिमाकर्ण्य कराभ्यां नेत्रे पिधाय रुदती प्राह । पुत्र ! पितृव्येन कां दशां गमितोऽसि । ये मया नियमा उपवासाश्च त्वत्कृते कृताः तेऽद्य मे विफला जाताः दशापि दिशामुखानि शून्यानि । पुत्र ! देवेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना मृष्टाः श्रियः । पुत्र ! एनं दासीवर्गं सहसा विच्छिन्नशिरसं पश्येत्युक्त्वा भूमावपतत् । ततः प्रदीप्ते वैश्वानरे समुद्भूतधूमस्तोमेनेव मलीमसे नभसि पापत्रासादिव पश्चिमपयोनिधौ मग्ने मार्तंडमंडले महामायाभवनमासाद्य प्राह भोजं वत्सराजः । कुमार ! भृत्यानां दैवत ! ज्योतिःशास्त्रविशारदेन केनचिद्ब्राह्मणेन तव राज्यप्राप्तावुदीरितायां राज्ञा भवद्वधो व्यादिष्ट इति । भोज प्राह—

अनन्तर वत्सराज समयानुसार कार्य करना चाहिये यह विचारके चुप होगये । जब सूर्य छिपने लगा तो ऊँचे महलसे उतरतेहुए क्रोधित यमराजकी समान वत्सराजको देखकर सभी सभासद भयभीत हो अनेक बहानोंसे अपने २ घरोंको जाने लगे । फिर वत्सराजने अपने घरकी रक्षाके लिये नौकरोंको भेज भुवनेश्वरी देवीके मन्दिरके सामने रथको खडा कर भोजको पढानेवाले पण्डितको बुलानेके निमित्त दूत भेजा । दूतने जाकर पंडितसे कहा, हे महाराज ! आपको वत्सराज बुलाते हैं । इस बातको सुन वज्रसे हतहुएकी समान, भूतचढेकी समान और ग्रहोंसे ग्रसे हुएकी समान उस दूतके द्वारा हाथ पकडे हुए पंडित आया । उस पंडितको प्रणाम करके बुद्धिमान् वत्सराजने कहा, हे पंडितजी महाराज ! विराजिये राजकुमार जयंतको पाठशालासे बुलाइये । राजकुमार जयंतके आनेपर कुछ पढे हुए पाठको पूँछकर वापिस भेज दिया । फिर पंडितसे कहा, महाराज ! अब भोजको बुलाइये तब सब समाचारको जाननेवाला भोज क्रोधसे जलते हुए लाल नेत्र किये आकर बोला । हे पापी ! राजाके मुख्य कुमारको अकेले राजभवनसे बाहर ले जानेकी तुझमें क्या सामर्थ्य है ? ऐसा कह बायें चरणकी खडाऊंको निकाल भोजने वत्सराजके शिरमें मारी । तब वत्सराजने कहा, हे भोज ! मैं राजाका आज्ञाकारी हूँ, यह कह बालक (भोज) को रथमें विठाल खड्गको म्यानसे निकालकर देवीके मंदिरपर पहुंचा । तब भोज पकडागया ऐसा कहते हुए लोग कोलाहल मचाने लगे, हूँ क्या है ! क्या है !! क्या हुआ !!! इस भाँतिसे ऊँचे शब्दद्वारा पुकारते हुए शूरवीर योधा शीघ्र आये । भोजका मारनेके लिये पकडा है यह जानकर हस्तिशाला, उष्ट्रशाला और अश्वशालामें घुसकर सबको मारने लगे । फिर गलियोंमें, राजमहलकी खाई, किलेके पास, शहरके दरवाजोंके सम्मुख, नगरके निकट भेरी, ढोल, मृदंग, डमरू, मड्डू और तम्बूरे आदिके शब्दसे आकाश गूंज गया । तब कुछ मनुष्य तीक्ष्ण तलवारसे, विषसे, भालेसे, फाँसीसे, आगमें जलकर, फरसेसे, बरछीसे, तोमरसे, खाँडेसे, जलमें डूबकर और पृथ्वीपर गिरकरही ब्राह्मण, स्त्री, राजपूत, राजसेवक आदि नगरवासी जन अपने २ प्राणोंको खोने लगे । फिर सावित्री नामवाली भोजकी माता

विश्वजननीकी समान स्थित हो दासीके मुखसे अपने पुत्रकी दशाको सुन हाथोंसे नेत्रोंको मलती और रोती हुई बोली, हे पुत्र ! तुम्हारे चचाने तुम्हारी क्या दशा की ? जो मैंने तुम्हारे लिये नियमके साथ व्रत कियेथे वे सब निष्फल होगये । दशों दिशाओंके मुख शून्य होगये । हे पुत्र ! सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् देवने समस्त ऐश्वर्य नष्ट कर दिये । हे पुत्र ! इन सब दासियोंको कटे हुए शिरकी समान एक बार देखो यह कहकर पृथ्वीपर गिरगई । प्रज्वलित अग्निसे निकलेहुए धुएँसे जैसे अँधेरा होजाताहै उसी प्रकार आकाश मलीन हो गया । पापके त्राससे सूर्यदेव पश्चिमी समुद्रमें डूबगये इस प्रकार दिनके छिपजानेपर वत्सराजने देवीके मन्दिरपर पहुँचकर भोजसे कहा । हे कुमार ! हे सेवकोंके स्वामी ! किसी ज्योतिषी ब्राह्मणने आकर तुम्हें राजा होना बताया था इसीसे राजाने तुम्हारे वध करनेकी आज्ञा दी है । भोजने कहा—

रामे प्रव्रजनं बलेर्नियमनं पांडोः सुतानां वनं ।
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ॥
पाकागारनिषेवणं च मरणं संचिन्त्य लंकेश्वरे ।
सर्वः कालवशेन नश्यति नरः को वा परित्रायते ॥ २८ ॥

रामचन्द्रजीका वनवास, राजा बलिका बन्धन, पांडवोंका वनवास, यादवोंकी मृत्यु, राजा नलका राज्यसे भ्रष्ट होना और रसोइयां बनाना एवं रावणकी मृत्युको देखो सभी मनुष्य कालसे नष्ट हुए किसने कालके गालसे रक्षा पाई है ॥ २८ ॥

लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजः सूनुः सुधांभोनिधे- ।
र्देवेन प्रणयप्रसादविधिना मूर्ध्ना धृतः शंभुना ॥
अद्याप्युज्झति नैव दैवविहितं क्षैण्यं क्षपावल्लभः ।
केनान्येन विलंघ्यते विधिगतिः पाषाणरेखासखी ॥ २९ ॥

लक्ष्मी, कौस्तुभमणि और कल्पवृक्षका सहोदर, अमृतरूपी क्षीरसागरका पुत्र और विनयपूर्वक प्रसन्नतासे महादेवजीके भालपर विराजमान जो चन्द्र है वह अब भी दैवबलसे क्षीणताको नहीं छोडता है और उसकी कला

सदा क्षणि होती रहती हैं, जैसे पत्थरपरकी लकीर नहीं मिटती है वैसेही विधाताकी गतिभी नहीं उलाँघी जाती है ॥ २९ ॥

विकटोर्व्यामप्यटनं शैलारोहणमपांनिधेस्तरणम् ॥
निगडं गुह्याप्रवेशो विधिपरिपाकः कथं नु संतार्यः ॥ ३० ॥

विकट भूमिपर विचरना, पर्वतपर चढना, सागरका तैरना, कारागारमें बंधन और गुहामें प्रवेश करना यह विधाताका बनाया हुआ है इससे कैसे पार पासक्ता है ॥ ३० ॥

अंभोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां ।
मेरुर्मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम् ॥
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया ।
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः ॥ ३१ ॥

जिसकी रक्षासे समुद्र स्थलभूमिके समान और स्थलभूमि जलमयी हो जाती है, धूलके कण पर्वत और सुमेरु पर्वत कणके रज हो जाते हैं, तिनके वज्रकी समान और वज्र तिनकेकी समान हो जाते हैं, अग्नि शीतल और बरफ आगकी समान हो जाती है, उन लीलामात्रसे अद्भुत कर्म करनेवाले देवको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

ततो वटवृक्षस्य पत्रे आदाय एकं पुटीकृत्य जंघां छुरिकया छित्वा तत्र पुटके रक्तमारोप्य तृणेन एकस्मिन् पत्रे कंचन श्लोकं लिखित्वा वत्सं प्राह। महाभाग! एतत्पत्रं नृपाय दातव्यं त्वमपि राजाज्ञां विधेहीति। ततो वत्सराजस्यानुजो भ्राता भोजस्य प्राणपरित्यागसमये दीप्यमानमुखश्रियमवलोक्य प्राह—

फिर वटवृक्षके दो पत्तोंको ले एकका दोना बनाया उस दोनेमें अपनी जंघासे छुरीके द्वारा रुधिर निकाल तिनकेसे दूसरे पत्तेपर कोई श्लोक लिखकर वत्सराजसे कहा, हे महाभाग! इस पत्रको राजाको दे देना, अब तुम

राजाकी आज्ञाका पालन करो। तब वत्सराजके छोटे भाईने प्राणोंके त्यागते समय भोजके मुखकी उज्ज्वल कान्तिको देखकर कहा—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ॥
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यच्च गच्छति ॥ ३२ ॥

केवल एकमात्र धर्मही ऐसा मित्र है जो मरनेके उपरान्तभी (प्राणीके) साथ जाता है अन्य समस्त शरीरके साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

न ततो ह सहायार्थे माता भार्या च तिष्ठति ॥
न पुत्रमित्रे न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ ३३ ॥

शरीरके नष्ट होनेपर माता, स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु आदि कोई भी सहायता करनेको नहीं खडा होता उस समय केवल धर्मही सहायता करता है ॥ ३३ ॥

बलवानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः ॥
श्रुतिवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो जनः ॥ ३४ ॥

धर्मसे विमुख हुए पुरुषको बलवान् होनेपरभी निर्बल, धनी होनेपरभी निर्धनी और शास्त्री होनेपरभी मूर्ख जानो ॥ ३४ ॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ॥
गत्वा निरौषधस्थानं स रोगी किं करिष्यति ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य इसी लोकमें नरकरूपी व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता है वही रोगी औषधरहित स्थानमें जाकर क्या करेगा ॥ ३५ ॥

जरां मृत्युं भयं व्याधिं यो जानाति स पंडितः ॥
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा स्वपेद्वा केनाचिद्धसेत ॥ ३६ ॥

जरावस्था, मृत्यु, भय, और व्याधियोंके जाननेवालेको पंडित कहते हैं, मनुष्य स्वस्थ होनेसे स्थित होता है, स्वस्थ होनेसे आराम करता है, स्वस्थ होनेसे सोता है और स्वस्थ होनेसेही किसीसे हँसता है ॥ ३६ ॥

तुल्यजातिवयोरूपान् हतान् पश्यत मृत्युना ॥
नहि तत्रास्ति ते त्रासो वज्रवद्धृदयं तव ॥ ३७ ॥ इति ।

अपनी समान जाति, आयु और रूपवाले मनुष्यको मृत्युके द्वारा नष्ट होते हुए देखते हो तोभी तुम्हारे हृदयमें त्रास नहीं होता, तुम्हारा हृदय वज्रकी समान कठोर है ॥ ३७ ॥

ततो वैराग्यमापन्नो वत्सराजः भोजं क्षमस्वेत्युक्त्वा प्रणम्य तं च रथे निवेश्य नगराद्बहिर्घने तमसि गृहमागमय्य भूमिगृहांतरे निक्षिप्य ररक्ष। स्वयमेव कृत्रिमविद्याविद्भिः सुकुंडलं स्फुरद्वक्त्रं निमीलितनेत्रं भोजकुमारमस्तकं कारयित्वा तच्चादाय कनिष्ठो राजभवनं गत्वा राजानं नत्वा प्राह। श्रीमता यदादिष्टं तत्साधितमिति। ततो राजा च पुत्रवधं ज्ञात्वा तमाह वत्सराज! खड्गप्रहारसमये तेन पुत्रेण किमुक्तमिति। वत्सस्तत्पत्रमदात्। राजा स्वभार्याकरेण दीपमानीय तानि पत्राक्षराणि वाचयति—

फिर वैराग्यको प्राप्त होकर वत्सराजने भोजको प्रणाम करके क्षमा मांगी और भोजको रथमें बिठाल नगरके बाहर अंधेरा हो जानेपर अपने घर लाय तहखानेमें भोजको रक्खा। एवं चित्रकारों द्वारा सुन्दर कुंडलोंको धारे, प्रकाशित मुखकी छवियुक्त, मिचेहुए नेत्रवाले भोजका मस्तक बनवाकर राजभवनमें जाय राजाको प्रणाम करके कहा, कि—श्रीमान्‌की आज्ञाका पालन किया। तब राजाने पुत्रके वधको जान वत्सराजसे कहा कि, मरते समय पुत्रने क्या कहा? तब वत्सराजने पत्रको दे दिया। राजा रानीके हाथ दीपकको मँगाकर पत्रको बाँचने लगा।

मांधाता च महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः।
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यांतकः॥
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते।
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति॥ ३८॥

सत्युगका भूषण स्वरूप राजा मांधाता चला गया, समुद्रका पूल बाँध रावणके मारनेवाले रामचन्द्रजी कहां हैं? हे राजन्! औरभी युधिष्ठिर

आदि राजा स्वर्गको सिधार गये परन्तु यह पृथ्वी किसीकेभी साथ नहीं गई, अब जान पडता है कि तुम इस (पृथ्वी) को अपने साथ ले जाओगे ॥ ३८ ॥

राजा च तदर्थं ज्ञात्वा शय्यातो भूमौ पपात । ततश्च देवीकरकमलचालितचैलांचलानिलेन ससंज्ञो भूत्वा देवि! मां मा स्पृश हा हा पुत्रघातिनमिति विलपन् कुरर इव द्वारपालानानाय्य ब्राह्मणानानयतेत्याह । ततः स्वाज्ञया समागतान् ब्राह्मणान्नत्वा मया पुत्रो हतः तस्य प्रायश्चित्तं वदध्वमिति वदंतं ते तमूचुः । राजन् सहसा वह्निमाविशेति । ततः समेत्य बुद्धिसागरः प्राह । यथा त्वं राजाधमस्तथैव अमात्याधमो वत्सराजः । तव किल राज्यं दत्त्वा सिंधुलनृपेण तेन त्वदुत्संगे भोजः स्थापितः तच्च त्वया पितृव्येणान्यत्कृतम्—

राजा उस (श्लोक) के अर्थको जानकर शय्यासे पृथ्वीपर गिर गया । तब रानीने अपने करकमलों द्वारा वस्त्रके आँचलसे पवन करके राजाको चैतन्यता प्राप्त कराई । तब राजाने कहा—हे देवि ! हाहा ! मुझ पुत्रघातीको मत छुओ, इस भाँति कुररी पक्षीकी समान विलाप करता हुआ द्वारपालोंको बुलाकर बोला कि, ब्राह्मणोंको बुला लाओ । अनन्तर अपनी आज्ञानुसार आये ब्राह्मणोंको प्रणाम करके कहा, मैंने पुत्रको मार डाला है सो आप इस (पुत्रवधके) पापका प्रायश्चित्त बताइये । राजाके ऐसे वचन सुन ब्राह्मण बोले हे राजन् ! सहसा अग्निमें प्रवेश कीजिये । तो वहाँपर विराजमान बुद्धिसागरने कहा । जैसे तुम अधम राजा हो वैसेही मंत्री वत्सराजभी अधम है । कारण सिंधुल राजाने तुम्हें राज्य देकर तुम्हारीही गोदमें भोजको बिठादिया था । उसका चाचा होकर तुमने मरवा डाला ।

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः ॥
विदधति तथापराधं जन्म हि तेषां यथा वृथा भवति ॥ ३९॥

दुष्ट पुरुष कुछ काल स्थित रहनेवाले मदकारी यौवनमें ऐसे अपराध कर डालते हैं जिससे उनका जन्मही वृथा हो जाता है ॥ ३९ ॥

संतस्तृणोत्सारणमुत्तमांगात्सुवर्णकोट्यर्पणमामनंति ॥
प्राणव्ययेनापि कृतोपकाराः खलाः परं वैरमिवोद्वहंति ॥४०॥

सज्जन पुरुष अपने शिरपरसे तिनकेको उतार देनेवालेके लिये करोडों सोनेकी मोहर देकर मान लेते हैं और दुष्ट पुरुष प्राणत्याग करकेभी उपकार करनेवालेको वैरीकी समान मानते हैं ॥ ४० ॥

उपकारश्चापकारो यस्य व्रजति विस्मृतिम् ॥
पाषाणहृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा ॥ ४१ ॥

किये हुए अपकार और उपकारोंको जो भूल जाते हैं, उन पत्थरकी समान हृदयवालोंका जीवनही वृथा है ॥ ४१ ॥

यथांकुरः सुसूक्ष्मोऽपि प्रयत्नेनाभिरक्षितः ॥
फलप्रदो भवेत्काले तथा लोकः सुरक्षितः ॥ ४२ ॥

जिस भाँति छोटा अङ्कुरभी यत्नके साथ रक्षित रहनेसे समयपर फल देता है, उसी भाँति उत्तमतासे रक्षित किया हुआ पुरुष समयपर फल देता है ॥ ४२ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च ॥
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम् ॥ ४३ ॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, विविध भाँतिके धन, तथा अन्य प्रकारके जो कुछ पदार्थ हैं वे सब राजाओंके प्रजासे होते हैं ॥ ४३ ॥

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः सदा ॥
राजानमनुवर्तंते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ४४ ॥

राजाके धर्मात्मा होनेसे प्रजा धार्मिक, राजाके पापी होनेसे प्रजा भी पापी होतीहै, राजाके अनुसारही प्रजा चलतीहै इस कारण जैसा राजा होताहै वैसीही प्रजा होती है ॥ ४४ ॥

ततो रात्रावेव वह्निप्रवेशननिश्चिते राज्ञि सर्वे सामंताः पौराश्च मिलिताः। पुत्रं हत्वा पापभयाद् भीतो नृपतिर्वह्निं प्रविशतीति किंवदंती सर्वत्राजनि। ततो बुद्धिसागरो द्वारपालमाहूय न केनापि भूपालभवनं प्रवेष्टव्यमित्युक्त्वा नृपमंतःपुरे निवेश्य सभायामेकाकी सन् उपविष्टः। ततो राजमरणवार्तां श्रुत्वा वत्सराजः सभागृहमागत्य बुद्धिसागरं नत्वा शनैः प्राह तात! मया भोजराजो रक्षित इति। बुद्धिसागरश्च कर्णे तस्य किमप्यकथयत्। तच्छ्रुत्वा वत्सराजश्च निष्क्रांतः। ततो मुहूर्तेन कोऽपि करकलितदंतीन्द्रदंतदंडो विरचितप्रत्यग्रजटाकलापः कर्पूरकरंबितभसितोद्वर्तितसकलतनुमूर्तिमान्मन्मथ इव स्फटिककुंडलमंडितकर्णयुगलः कौशेयकौपीनो मूर्तिमांश्चंद्रचूड इव सभां कापालिकः समागतः। तं वीक्ष्य बुद्धिसागरः प्राह। योगीन्द्र कुत आगम्यते कुत्र ते निवेशश्च। कापालिके त्वयि यच्चमत्कारकारिकलाविशेष औषधविशेषोऽप्यस्ति। योगी प्राह—

अनन्तर राजाका रात्रिमें अग्निमें प्रवेश करना निश्चित हुआ। तब सब सामन्त और नगरनिवासी मिलकर कहनेलगे कि पुत्रको मार पापके भयसे डरकर राजा अग्निमें प्रवेश करता है, यह बात सर्वत्र फैलगई। तब बुद्धिसागर मंत्रीने द्वारपालोंको बुलाकर कहा कि—राजाके महलोंमें किसीको न आने देना, और स्वयं राजाके महलमें जाकर सभाके स्थानपर अकेलाही बैठगया। फिर राजाकी मृत्युका समाचार सुन वत्सराजने सभामें आकर बुद्धिसागरको प्रणाम करके धीरे २ कहा, हे तात! मैंने भोजको बचा

रक्खा है । तब बुद्धिसागरने उसके कानमें कुछ कहा । उसको सुन वत्सराज चला गया फिर दो घडीके पीछे हाथीदाँतका दंड धारे, जटाओंका जूडा बनाये, कपूरके चूर्णसे मिली भस्मको सर्वाङ्गमें रमाये, कामदेवकी समान प्रकाशमान स्फटिकमणिके कुंडलोंसे दोनों कानोंको भूषित किये, रेशमी वस्त्रकी कौपीन धारण किये और हाथमें कपाल लिये हुए सभामंडपमें साक्षात् महादेवजीके समान एक योगी आया । उसको देख बुद्धिसागरने कहा, हे योगीन्द्र ! कहाँसे आये और आपका स्थान कहाँ है । तुम्हारी कपालीमें चमत्कारी कलाविशेष कोई औषधि है क्या ? योगीने कहा—

देशे देशे भवनं भवने भवने तथैव भिक्षान्नम् ॥
सरसि च नाद्यं सलिलं शिवशिव तत्त्वार्थयोगिनां पुंसाम् ॥ ४५ ॥

शिव २ तत्त्वके अर्थको जाननेवाले योगियोंको प्रतिदेशमें घर है और प्रत्येक घरमें भिक्षाका अन्न है तथा सरोवर एवं नदियोंमें जल है ॥ ४५ ॥

ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या निर्झरे निर्झरे जलम् ॥
भिक्षायां सुलभं चान्नं विभवैः किं प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

प्रत्येक ग्राममें रमणीक कुटी हैं, झरनोंमें सुन्दर जल है, फिर सुगमतासे भिक्षाका अन्न प्राप्त होजाताहै तब ऐश्वर्यका क्या प्रयोजन है ॥ ४६ ॥

देव ! अस्माकं नैको देशः सकलभूमंडलं भ्रमामः । गुरुप्रदेशे तिष्ठामः । निखिलं भुवनतलं करतलामलकवत्पश्यामः । सर्पदष्टं विषव्याकुलं रोगग्रस्तं शस्त्रभिन्नशिरस्कं कालशिथिलितं तात ! तत्क्षणादेव विगतसकलव्याधिसंचयं कुर्म इति । राजापि कुड्यांतर्हित एव श्रुतसकलवृत्तांतः सभामागतः कापालिकं दंडवत्प्रणम्य योगीन्द्र ! रुद्रकल्प परोपकारपरायण ! महापापिना मया हतस्य पुत्रस्य प्राणदानेन मां रक्षेत्याह । अथ कापालिकोऽपि राजन् ! मा भैषीः । पुत्रस्ते न मरिष्यति शिवप्रसादेन गृहमेष्यति

परं श्मशानभूमौ बुद्धिसागरेण सह होमद्रव्याणि प्रेषयेत्यवोचत् । ततो राज्ञा कापालिकेन यदुक्तं तत्सर्वं तथा कुर्वेति बुद्धिसागरः प्रेषितः । ततो रात्रौ गूढरूपेण भोजोऽपि तत्र नदीपुलिने नीतः । योगिना भोजो जीवित इति प्रथा च समभूत् । ततो गजेंद्रारूढो बंदिभिः स्तूयमानो भेरीमृदंगादिघोषैर्जगद्बधिरीकुर्वन् पौरामात्यपरिवृतो भोजराजो राजभवनमगात् । राजा च तमालिंग्य रोदिति । भोजोऽपि रुदंतं मुंजं निवार्य अस्तौषीत् । ततः संतुष्टो राजा निजसिंहासने तस्मिन्निवेशयित्वा छत्रचामराभ्यां भूषयित्वा तस्मै राज्यं ददौ । निजपुत्रेभ्यः प्रत्येकमेकैकं ग्रामं दत्त्वा परमप्रेमास्पदं जयंतं भोजसकाशे निवेशयामास । ततः परलोकपरित्राणो मुञ्जोऽपि निजपट्टराज्ञीभिः सह तपोवनभूमिं गत्वा परं तपस्तेपे । ततो भोजभूपालश्च देवब्राह्मणप्रसादाद्राज्यं पालयामास ॥

इति भोजराजस्य राज्यप्राप्तिप्रबंधः ।

हे देव ! हमारा कोई नियत एक देश नहीं है, समस्त भूमंडलपर विचरते हैं और गुरुदेवके उपदेशसे स्थित रहते हैं । समस्त पृथ्वीमंडलको करतलगत आँवलेकी समान प्रत्यक्ष देखते हैं । हे तात ! सर्पसे डसेको, विषसे व्याकुलको, रोगीको, शस्त्रद्वारा छिन्नमस्तकवालेको और कालसे शिथिल पुरुषको हम तत्काल व्याधियोंसे रहित कर देते हैं । राजाने इन सब बातोंको भीतकी ओहलटमें खडे हुए सुनी । फिर सभामें आकर कपालधारी योगीको प्रणाम करके कहा—हे योगिराज ! हे शिवजीकी समान परोपकार करनेवाले ! मुझ महापापीने पुत्रको मरवा डाला है उसको आप जिलाकर मेरी रक्षा करो । तब योगीने कहा—हे राजन् ! तुम भय मत करो, तुम्हारा पुत्र नहीं मरेगा, शंकरकी कृपासे घर आ जायगा, तुम बुद्धिसागरके द्वारा स्मशानभूमिमें हवनकी सामग्री पहुँचा दो । राजाने बहुत अच्छा ऐसाही

होगा यह कहकर बुद्धिसागरको भेजा। फिर रात्रिमें गुप्तभावसे भोजको नदीके स्थलमें प्राप्त कर दिया, तब योगिराजने भोजको जिला दिया यह बात प्रसिद्ध हुई। उपरान्त हाथीपर चढ, वन्दीजनों द्वारा स्तुतिको प्राप्त होता हुआ, मृदङ्ग आदि बाजोंके शब्दसे जगत् बधिर करता हुआ, नगरनिवासी और मंत्रियोंके साथ राजा भोज राजभवनमें आया। तब राजा भोजसे मिलकर रोने लगा। भोजने राजाको रोनेसे बंद कर स्तुति की। पीछे राजाने प्रसन्न होकर राजसिंहासनपर भोजको बिठा छत्र, चामरोंसे भूषित कर राज्य दे दिया। और अपने बेटोंको एक एक ग्राम देकर परम प्रेमस्थान जयन्तको भोजकी गोदमें बिठा दिया। अनन्तर परलोकमें रक्षा पानेकी अभिलाषासे मुंज अपनी पटरानियों समेत तपोवनमें जाय तपस्या करने लगा। और राजा भोज देवता और ब्राह्मणोंकी कृपासे राज्य करने लगा।

राजा भोजका राज्यप्राप्तिप्रबंध समाप्त।

ततो मुञ्जे तपोवनं याते बुद्धिसागरं मुख्यामात्यं विधाय स्वराज्यं बुभुजे भोजराजभूपतिः। एवमतिक्रामति काले कदाचिद्राज्ञा क्रीडतोद्यानं गच्छता कोऽपि धारानगरवासी विप्रो लक्षितः। स च राजानं वीक्ष्य नेत्रे निमील्य आगच्छन् राज्ञा पृष्टः। द्विज! त्वं मां दृष्ट्वा न स्वस्तीति जल्पसि। विशेषेण लोचने निमीलयसि तत्र को हेतुरिति। विप्र आह। देव! त्वं वैष्णवोऽसि विप्राणां नोपद्रवं करिष्यसि ततस्त्वत्तो न मे भीतिः, किं तु कस्मैचित्किमपि न प्रयच्छसि, तेन तव दाक्षिण्यमपि नास्ति। अतस्ते किमाशीर्वचसा। किं च 'प्रातरेव कृपणमुखावलोकनात् परतोऽपि लाभहानिः स्यात्' इति लोकोक्त्या लोचने निमीलिते॥

मुंजके तपोवनमें जानेपर राजा भोजने अपने पुराने मंत्री बुद्धिसागरको मंत्री बनाया और अपने राज्यको भोगने लगा। इस भाँतिसे चिरकालके

उपरान्त क्रीडास्थानरूपी बगीचेमें जातेसमय राजा भोजने धारानगरवासी किसी ब्राह्मणको देखा । उस ब्राह्मणने राजाको देख अपने दोनों नेत्र मींच-लिये, तब राजाने कहा कि—हे भूदेव ! तुमने मुझे देख 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद तो न दिया परन्तु अपने नेत्र मींचलिये सो इसका क्या कारण है ? ब्राह्मणने कहा हे देव ! तुम वैष्णव हो अतएव ब्राह्मणोंपर उपद्रव न करोगे इसीसे मैं निर्भय हूं। किसीको कुछभी नहीं देते हो इस कारण तुम उदार नहीं हो । इसलिये आशीर्वाद देनेसे क्या लाभ है । दूसरे प्रातः-समय कृपणके मुख देखनेसे दूसरोंसे भी हानि होती है इस लौकिक किंवदन्तीसे मैंने नेत्र मींचलिये ।

अपि च—

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः ॥
न तं राजानमिच्छंति प्रजाः षंढमिव स्त्रियः ॥ ४७ ॥

औरभी जिसकी प्रसन्नता और क्रोध निष्फल हो उस राजाको प्रजा नहीं चाहती है जैसे नपुंसक पुरुषको स्त्री नहीं चाहती है ॥ ४७ ॥

अप्रगल्भस्य या विद्या कृपणस्य च यद्धनम् ॥
यच्च बाहुबलं भीरोर्व्यर्थमेतत्त्रयं भुवि ॥ ४८ ॥

विना प्रगल्भता (ढिठाई) की विद्या, कृपणका धन और डरपोक मनुष्यकी भुजाओंका बल पृथ्वीपर निष्फल जानो ॥ ४८ ॥

देव ! मत्पिता वृद्धः काशीं प्रति गच्छन् मया शिक्षां पृष्टः तात ! मया किं कर्त्तव्यमिति । पित्रा चेत्थमभ्यधायि ॥

हे देव ! जब मेरा पिता काशीजीको जाने लगा तब मैंने पूछा कि हे तात ! मुझे क्या करना चाहिये, तब पिताने कहा—

यदि तव हृदयं विद्वन् सुनयं स्वप्नेऽपि मास्म सेविष्ठाः ॥
सचिवजितं षंढजितं युवतिजितं चैव राजानम् ॥ ४९ ॥

हे विद्वन् ! जो तुम्हारा हृदय नीतिसे पूर्ण है, तो तुम मंत्रियोंके, नपुं-सकोंके और स्त्रियोंके वशीभूत राजाको स्वप्नमेंभी नहीं सेवन करना ॥ ४९ ॥

पातकानां समस्तानां द्वे परे तात पातके ॥
एकं दुस्सचिवो राजा द्वितीयं च तदाश्रयः ॥ ५० ॥

हे तात ! सब पापोंमें दो पाप बडे हैं, एक तो दुष्ट मंत्रीके वशीभूत राजा और दूसरे उस राजाके आश्रय रहना ॥ ५० ॥

अविवेकमतिर्नृपतिर्मंत्रिषु गुणवत्सु वक्रितग्रीवः ॥
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः ॥ ५१ ॥

मूर्ख राजाकी गुणवान् मंत्रिगणोंपर तिरछी दृष्टि रहती है, जहाँ दुष्टोंकी प्रबलता होती है वहाँ सज्जनोंको अवसर कहाँ मिलता है ॥ ५१ ॥

राज्ञा संपत्तिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणाश्रयः ॥
भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालांतरादपि ॥ ५२ ॥

सम्पत्तिसे हीन होनेपरभी गुणी राजाका सेवन करै, कारण समय आने पर उससे आजीविकारूपी फल प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

अदातुर्दाक्षिण्यं नहि भवति । देव ! पुरा कर्णदधीचिशि-बिविक्रमप्रमुखाः क्षितिपतयो यथा परलोकमलंकुर्वाणा निजदानसमुद्भूतदिव्यनवगुणैर्निवसंति महीमंडले तथा किमपरे राजानः ? ॥

कृपणको चतुर नहीं कहते, हे देव ! पूर्वके राजा कर्ण, दधीचि, शिबि और विक्रमादिकोंने जैसे परलोकको भूषित किया है और अपने हाथके द्वारा दानसे उत्पन्न हुए नव गुणोंसे युक्त पृथ्वीपर वास किया है वैसे क्या और राजा हैं ?

देहे पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपातवत् ॥
नरः पतति कायोऽपि यशःकायेन जीवति ॥ ५३ ॥

नष्ट होनेवाले शरीरकी क्या रक्षा करै, अविनाशी यशकी रक्षा करै, मृत्युके होनेपर मनुष्यका शरीर नष्ट होजाता है परन्तु यशरूपी शरीर मृत्युके उपरान्त भी अमर रहता है॥ ९३॥

पंडिते चैव मूर्खे च बलवत्यपि दुर्बले॥
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्योः सर्वत्र तुल्यता॥ ९४॥

पण्डित, मूर्ख, बलवान्, निर्बल, धनी और निर्धनी सबके विषे मृत्युकी समानता जानो॥ ९४॥

निमेषमात्रमपि ते वयो गच्छन्न तिष्ठति॥
तस्माद्देहेष्वनित्येषु कीर्तिमेकामुपार्जयेत्॥ ९५॥

क्षणमात्र भी न ठहरनेवाली तुम्हारी आयु बीती चली जाती है, अतएव इस अनित्य देहमें केवल कीर्तिका सञ्चय करो॥ ९५॥

जीवितं तदपि जीवितमध्ये गण्यते सुकृतिभिः किमु पुंसाम्॥
ज्ञानविक्रमकलाकुललज्जात्यागभोगरहितं विफलं यत्॥ ९६॥

जो ज्ञान, पराक्रम, कला, कुलकी लाज, त्याग और भोगसे रहित हैं वह क्या जीतेजी सज्जनोंकी जीवनीमें गिने जा सक्ते हैं? अर्थात् नहीं गिने जाते॥ ९६॥

राजापि तेन वाक्येन पीयूषपूरस्नात इव परब्रह्मणि लीन इव लोचनाभ्यां हर्षाश्रूणि मुमोच। प्राह च द्विज विप्रवर! शृणु-

राजा भी उसके वचनद्वारा अमृतपूर्ण सरोवरमें गोता लगानेकी समान परब्रह्ममें लीन हो नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाता हुआ बोला कि-हे विप्रवर! सुनो—

सुलभाः पुरुषा लोके सततं प्रियवादिनः॥
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ ९७॥

संसारमें प्रियवचन बोलनेवाले मनुष्य बहुत हैं परन्तु अप्रियरूपी हितके वचन कहने और सुननेवाले मनुष्य बहुत कम हैं॥ ९७॥

मनीषिणः संति न ते हितैषिणो हितैषिणः संति न ते मनीषिणः ॥
सुहृच्च विद्वानपि दुर्लभो नृणां यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम् ५८

बुद्धिमान् पुरुष हितैषी नहीं होते और हितैषी पुरुष बुद्धिमान् नहीं होते हैं, जिस भाँति हितकारी और स्वादिष्ट औषधि दुर्लभ है उसी भांति मनुष्यको विद्वान् मित्र मिलना दुर्लभ है ॥ ५८ ॥

इति विप्राय लक्षं दत्त्वा किं ते नामेत्याह । विप्रः स्वनाम भूमौ लिखति गोविंद इति । राजा वाचयित्वा विप्र ! प्रत्यहं राजभवनमागन्तव्यं न ते कश्चिन्निषेधः। विद्वांसः कवयश्च कौतुकात् सभामानेतव्याः। कोऽपि विद्वान् न दुःखभागस्तु एनमधिकारं पालयेत्याह । एवं गच्छत्सु कतिपयदिवसेषु राजा विद्वत्प्रियः दानवित्तेश्वर इति प्रथामगात् । ततो राजानं दिदृक्षवः कवयो नानादिग्भ्यः समागताः। एवं वित्तादिव्ययं कुर्वाणं राजानं प्रति कदाचित् मुख्यामात्येनेत्थमभ्यधायि । देव ! राजानः कोशबला एव विजयिनो नान्ये—

इतना कह राजाने ब्राह्मणको लाख रुपये देकर कहा—महाराज ! आपका नाम क्या है ? ब्राह्मणने अपने नामको पृथ्वीपर "गोविन्द" लिख दिया । राजाने उसके नामको पढकर कहा हे विप्र! तुम प्रतिदिन राजभवनमें आया करो । तुम्हारा कोई निषेध नहीं है। विद्वान् और कवियोंको सहर्ष सभामें लाया करो । कोई विद्वान् दुःखी न रहे यह तुम्हें अधिकार दिया गया । इस भांतिसे कुछ दिनोंके पीछे राजा विद्वानोंका हितैषी और बडा दानी है यह बात फैलगई तब राजाको देखनेके लिये देश-देशान्तरोंसे कविजन आने लगे । ऐसे धनादिका व्यय करते देख राजासे मुख्यमंत्रीने एक दिन कहा कि, देव ! विपुल धनवाले राजाही विजयी होते हैं दूसरे नहीं—

स जयी वरमातंगा यस्य कस्यास्ति मेदिनी ॥
कोशो यस्य स दुर्धर्षो दुर्गं यस्य स दुर्जयः ॥ ५९ ॥

जिसके उत्तम हाथियोंसे युक्त भूमि है वह जय पाताहै, जिसके खजाना है उसका प्रचंड प्रताप जानो और जिसके किला होता है वह दुर्जय होता है ॥ ५९ ॥

देव ! लोकं पश्य—

हे देव ! लोकको देखो ।

प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी ॥
पश्य कोटिद्वयासक्तं लक्षाय प्रवणं धनुः ॥ ६० ॥ इति ।

प्रायः धनियोंकी धनमें बडी तृष्णा होती है । देखो दो करोड रुपयेवाला मनुष्य लाख रुपयें पानेके लिये बडे उपाय करता है । (यहां दूसरा भाव यह है कि धनुषके दो कोटि (अग्रभाग) होते हैं बीचसे धनुष झुकता है, यहाँ लक्षनाम निशानेका होनेसे अर्थ होता है) दो कोटिमें आसक्त हो धनुषको लक्ष (निशान) के लिये झुकेहुएको देखो ॥ ६० ॥

राजा च तमाह—

इसको सुन राजाने कहा—

दानोपभोगवंध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते ॥
पुंसां समाहिता लक्ष्मीरलक्ष्मीः क्रमशो भवेत् ॥ ६१ ॥

जो दान भोगमें नहीं आती, जो मित्रोंद्वारा नहीं भोगीजाती वह पुरुषोंकी एकत्रित की हुई लक्ष्मी क्रमानुसार अलक्ष्मी हो जाती है ॥ ६१ ॥

इत्युक्त्वा राजा तं मंत्रिणं निजपदाद्दूरीकृत्य तत्पदेऽन्यं न्यदिदेश । आह च तम्—

ऐसा कहकर राजाने उस मंत्रीको मन्त्रीके पदसे हटाकर दूसरेको मंत्री बनाया और उससे कहा—

लक्षं महाकवेर्देयं तदर्धं विबुधस्य च ॥
देयं ग्रामैकमर्थस्य तस्याप्यर्धं तदर्थिनः ॥ ६२ ॥

महाकविको एक लाख रुपये देना, पण्डितको पचास हजार, अर्थके जाननेवालेको एक गाँव और कहे अर्थको समझनेवालेके लिये उससे आधा धन देना ॥ ६२ ॥

यश्च मे अमात्यादिषु वितरणनिषेधमनाः स हंतव्यः । उक्तं च–

जो मेरे आत्मीय जन दान करनेका निषेध करेंगे तो उनको मारना चाहिये । कहा भी है–

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनां धनम् ॥
अन्ये मृतस्य क्रीडंति दारैरपि धनैरपि ॥ ६३ ॥

जो देता है और जो भोगता है उसीको धनीका धन समझो, मरनेके पीछे धन एवं स्त्रियोंको दूसरेही भोगते हैं ॥ ६३ ॥

प्रियः प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः ॥
आगच्छन् कांक्ष्यते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः ॥ ६४ ॥

दाताही सबको प्यारा लगता है, धनीको कोई प्यार नहीं करता जैसे मनुष्य मेघोंका आना चाहते हैं और समुद्रका नहीं ॥ ६४ ॥

संग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले ॥
दातारं जलदं पश्य गर्जंतं भुवनोपरि ॥ ६५ ॥

सर्वसंग्रहकारी समुद्र रसातलमें पडा है और दाता मेघोंको भुवनऊपर गर्जते हुए देखो ॥ ६५ ॥

एवं वितरणशालिनं भोजराजं श्रुत्वा कश्चित्कलिंगदेशात्क-विरुपेत्य मासमात्रं तस्थौ । न च क्षोणीन्द्रदर्शनं भजति । आहारार्थं पाथेयमपि नास्ति । ततः कदाचिद्राजा मृगयाभिलाषी बहिर्निर्गतः । स कविर्दृष्ट्वा राजानमाह–

इस भाँति राजा भोजको दानी सुनकर कलिंगदेशवासी कवि आकर एक मास रहा परन्तु राजाके दर्शन नहीं हुए। इधर इस कविके पासका भोजनके लिये पैसाभी चुक गया। किसी समय राजा सिकार खेलनेको बाहर निकला तो कविने राजाको देखकर कहा—

दृष्टे श्रीभोजराजेंद्रे गलंति त्रीणि तत्क्षणात् ॥
शत्रोः शस्त्रं कवेः कष्टं नीवीबंधो मृगीदृशाम् ॥ ६६ ॥

श्रीराजा भोजके दर्शन करतेही तीन चीजें गिर जाती हैं, एक तो शत्रुका शस्त्र, दूसरे कविका कष्ट और तीसरे स्त्रियोंकी नीवी ॥ ६६ ॥

राजा लक्षं ददौ। ततस्तस्मिन्मृगयारसिके राजनि कश्चन पुलिंदपुत्रो गायति। तेन गीतमाधुर्येण तुष्टो राजा तस्मै पुलिंदपुत्राय पंचलक्षं ददौ। तदा कविः तद्दानमत्युन्नतं किरातपोतं च दृष्ट्वा नरेंद्रपाणिकमलस्थपंकजमिषेण राजानं वदति—

राजाने उसको लाख रुपये दिये। तदनंतर राजाके सिकार खेलते हुए किसी पुलिंद (भील) के पुत्रने गाया। उसके सुरीले गीत गानेसे राजाने प्रसन्न होकर उस (पुलिंदपुत्र) के लिये पांच लाख रुपये दिये, तब उस कविने भीलपुत्रको अधिक धन देते देख राजाके हाथमें स्थित कमलके मिससे राजासे कहा—

एते गुणास्तु पंकज संतोऽपि न ते प्रकाशमायांति ॥
यल्लक्ष्मीवसतेस्तव मधुपैरुपभुज्यते कोशः ॥ ६७ ॥

हे कमल! तुझमें इतने गुण रहते भी दृष्टि नहीं आते इसीसे लक्ष्मीके स्थानस्वरूप तेरे खजानेको भ्रमरही भोगते हैं। राजाके पक्षमें जाना जाता है कि, हे राजन्! तेरा खजाना मधुपान करनेवाले गँवारही लेते हैं ॥ ६७ ॥

भोजस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा पुनर्लक्षमेकं ददौ। ततो राजा ब्राह्मणमाह—

राजाने इस आशयको जान फिर उस ब्राह्मणको एक लाख रुपये दिये और राजाने ब्राह्मणसे कहा—

प्रभुभिः पूज्यते विप्र कलैव न कुलीनता ॥
कलावान् मान्यते मूर्ध्नि सत्सु देवेषु शंभुना ॥ ६८ ॥

हे विप्र ! स्वामी कलाको पूजते हैं कुछ कुलीनताको नहीं पूजते, जैसें कलावान् होनेसे चन्द्रमाको शिवजीने अन्य देवताओंके होते हुए भी अपने मस्तकपर धारण किया है ॥ ६८ ॥

एवं वदति भोजे कुतोऽपि पंचपाः कवयः समागताः । तान्दृष्ट्वा राजा विलक्षण इवासीत् । अद्यैव मया एतावद्वित्तं दत्तमिति । ततः कविस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा नृपं पद्मामिषेण पुनः प्राह—

राजा भोज ऐसे कह रहा था तब कहींसे पाँच छः कवि आगये । उनको देख राजा विलक्षणकी समान हो गया । अभी तो मैंने इतना धन दिया है । राजाके इस अभिप्रायको जानकर कमलके मिससे उस कविने राजासे कहा ।

किं कुप्यसि कस्मै वा नवसौरभसाराय हि निजमधुने ॥
यस्य कृते शतपत्र तेऽद्य प्रतिपत्रं मृग्यते भ्रमरैः ॥ ६९ ॥

हे सौपत्तेवाले कमल ! तू किसलिये और क्या कोप करता है ? नवीन सुगन्धिके मिठाससे क्यों कोप करते हो ? उसी मिठासके लियेही तो तेरे एक २ पत्तेको भ्रमर खोज रहे हैं ॥ ६९ ॥

ततः प्रभुं प्रसन्नवदनमवलोक्य प्रकाशेन प्राह—

फिर राजाको प्रसन्न हुआ देखकर प्रगटमें कहा--

न दातुं नोपभोक्तुं च शक्नोति कृपणः श्रियम् ॥
किं तु स्पृशति हस्तेन नपुंसक इव स्त्रियम् ॥ ७० ॥

कृपण मनुष्य लक्ष्मीको न देता है और न भोगताही है केवल हाथसे छूलेता है, जैसे नपुंसक पुरुष स्त्रीको हाथसे छूलेता है ॥ ७० ॥

याचितो यः प्रहृष्येत दत्त्वा च प्रीतिमान् भवेत् ॥
तं दृष्ट्वाप्यथवा श्रुत्वा नरः स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ७१ ॥

जो मांगनेपर प्रसन्न हो और दान देकर प्रीतिमान् हो तो ऐसे दाताको देखने वा सुननेसे मनुष्य स्वर्गको जाता है ॥ ७१ ॥

ततस्तुष्टो राजा पुनरपि कलिंगदेशवासिकवये लक्षं ददौ। ततः पूर्वकविः पुरः स्थितान् षट् कवींद्रान्दृष्ट्वाह। हे कवयोत्र महासरस्सेतुसुभूमौ वासी राजा यदा भवनं गमिष्यति तदा किमपि ब्रूतेति। ये च सर्वे महाकवयोऽपि सर्वं राज्ञः प्रथमचेष्टितं ज्ञात्वावर्त्तंत तेष्वेकः सरोमिषेण नृपं प्राह-

तब राजाने प्रसन्न होकर फिर कलिंगवासी कविको लाख रुपये दिये, तो उसी पहले कलिंगवासी कविने सम्मुख खडे हुए उन छः कविराजोंसे कहा हे कविगण! यहाँ महासरोवरकी भूमिपर विराजमान राजा जब घरको जाय तब कुछ कहना। तब वह कवि जो राजाके पूर्व किये कार्योंको जाने खडे थे उनमेंसे एक कविने सरोवरके मिससे राजासे कहा-

आगतानामपूर्णानां पूर्णानामप्यगच्छताम् ॥
यदध्वनि न संघट्टो घटानां तत्सरोवरम् ॥ ७२ ॥ इति।

खाली आये और भरकर नहीं गये इस भांति घडोंका मेल जिसके मार्गमें नहीं होता है ऐसा सरोवर है। भाव यह है कि आप ऐसे सरोवर हो कि आपके पास रीते घटरूपी निर्धन आकर पूर्ण धन लेकर नहीं गये ऐसा होता नहीं ॥७२॥

तस्य राजा लक्षं ददौ। ततो गोविंदपंडितस्तान् कवींद्रान्दृष्ट्वा चुकोप। तस्य कोपाभिप्रायं ज्ञात्वा द्वितीयः कविराह-

ऐसा कहनेपर उसको राजाने लाख रुपये दिये। तब गोविन्द पण्डित उन कवियोंको देखकर क्रोधित हुआ। उस क्रोधपूर्ण अभिप्रायको जानकर दूसरे कविने कहा-

कस्य तृषं न क्षपयसि पिबति न कस्तव पयः प्रविश्यांतः ॥
यदि सन्मार्गसरोवर नक्रो न क्रोडमधिवसति ॥ ७३ ॥

हे श्रेष्ठमार्गवाले सरोवर ! तुम्हारी गोदमें नाके नहीं रहते तो तुम किसकी प्यासको नहीं शान्त करते और तुम्हारे भीतर प्रवेश करके कौन जलको नहीं पीता ? ॥ ७३ ॥

राजा तस्मै लक्षद्वयं ददौ । तं च गोविंदपंडितं व्यापारपदाद्दूरीकृत्य त्वयापि सभायामागंतव्यं परं तु केनापि दौष्ट्यं न कर्तव्यम् । इत्युक्त्वा ततस्तेभ्यः प्रत्येकं लक्षं दत्त्वा स्वनगरमागतः । ते च यथायथं गताः । ततः कदाचिद्राजा मुख्यामात्यं प्राह—

राजाने उस कविको दो लाख रुपये दिये । और उस गोविन्द पंडितसे संकेतद्वारा कहा कि--आप सभामें आवें और किसीसे ईर्षा नहीं करें । यह कहकर फिर पृथक् २ उन कवियोंको एक २ लाख रुपये देकर अपने नगरमें आया । और वह सब अपने २ स्थानोंको गये । फिर किसी समय राजाने अपने मुख्य मंत्रीसे कहा--

विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे ॥
कुंभकारोऽपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे मम ॥ ७४ ॥ इति ।

मूर्ख ब्राह्मणभी मेरी राजधानीसे बाहर निकल जाय और विद्वान् होनेसे कुम्हार भी स्थित रहे ॥ ७४ ॥

अतः कोऽपि न मूर्खोऽभूद्धारानगरे । ततः क्रमेण पंचशतानि विदुषां वररुचिबाणमयूररेफणहरिशंकरकालिंगकर्पूरविनायकमदनविद्याविनोदकोकिलतारेंद्रमुखाः सर्वशास्त्रविचक्षणाः सर्वज्ञाः श्रीभोजराजसभामलंचक्रुः । एवं स्थिते कदाचिद्विद्वद्वृंदवंदिते सिंहासनासीने कविशिरोमणौ कवित्वप्रिये विप्रप्रियबांधवे भोजेश्वरे द्वारपाल एत्य प्रणम्य व्यजिज्ञपत् । देव ! कोपि विद्वान् द्वारि तिष्ठतीति । अथ राज्ञा प्रवेश्य तमिति आज्ञप्ते सोऽपि दक्षिणेन पाणिना समुन्नतेन विराजमानो विप्रः प्राह—

इस कारण धारानगरीमें कोई भी मूर्ख नहीं हुआ । फिर क्रमानुसार पांचसौ विद्वान् वररुचि, बाण, रेफण, हरिशंकर, कलिंग, कर्पूर, विनायक, मदन, विद्याविनोद, कोकिल, तारेन्द्र इत्यादि सब शास्त्रोंमें दक्ष और सर्वज्ञोंने राजा भोजकी सभाको अलंकृत किया। इस भाँतिसे किसी समय विद्वानोंसे वंदित राजसिंहासनपर विराजमान कवियोंके शिरोमणि और कवितारसिक, ब्राह्मणोंके प्रिय, बांधवोंसे युक्त श्रीराजाधिराज भोजसे आकर द्वारपालने प्रणाम करके कहा । हे देव ! कोई विद्वान् दरवाजेपर खडा है । तब राजाने कहा उसे लाओ तब दक्षिण भुजाको ऊपर उठाये हुए ब्राह्मणने आकर कहा-

राजन्नभ्युदयोऽस्तु शंकरकवे किं पत्रिकायामिदं ।
पद्यं कस्य तवैव भोजनृपते पापठ्यतां पठ्यते ॥
एतासामरविंदसुंदरदृशां द्राक् चामरांदोलना- ।
दुद्वेल्लद्भुजवल्लिकंकणझणत्कारः क्षणं वार्यताम् ॥ ७५ ॥

इस श्लोकमें राजा और शंकर कविका प्रश्नोत्तर है ।
शंकर-हे राजन् ! आपका अभ्युदय हो ।
राजा-हे शंकरकवे ! इस पत्रिकामें क्या है ?
शंकर-श्लोक है ।
राजा-किसका ?
शंकर-राजन् ! आपका ही है ।
राजा-पढके सुनाओ ।
शंकर-पढता हूं-

कमलनयनी सुन्दरी स्त्रियोंके चँवर डुलानेसे घूमतीहुई भुजारूपिणी लताओंके कंकणोंके झणत्कारशब्दको क्षणमात्रके लिये रोकिये ॥ ७५ ॥

यथा यथा भोजयशो विवर्धते सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ॥
तथा तथा मे हृदयं विदूयते प्रियालकालीधवलत्वशंकया ॥७६॥

जैसे २ आपका यश बढता है उससे तीनों लोक श्वेत हुए जाते हैं इसी कारण मेरे हृदयमें शंका होती है कि कहीं मेरी प्रियाके काले बाल सफेद न हो जाँय ॥ ७६ ॥

ततो राजा शंकरकवये द्वादशलक्षं ददौ । सर्वे विद्वांसश्च विच्छायवदना बभूवुः । परं कोऽपि राजभयान्नावदत् । राजा च कार्यवशाद् गृहं गतः । ततो विभूपालां सभां दृष्ट्वा विबुधगणस्तं निनिंद । अहो नृपतेरज्ञता किमस्य सेवया वेदशास्त्रविचक्षणेभ्यः स्वाश्रयकविभ्यः लक्षमदात् । किमनेन वितुष्टेनापि । असौ च केवलं ग्राम्यः कविः शंकरः । किमस्य प्रागल्भ्यमित्येवं कोलाहलरवे जाते कश्चिदभ्यगात् कनकमणिकुंडलशाली दिव्यांशुकप्रावरणो नृपकुमार इव मृगमदपंककलंकितगात्रो नवकुसुमसमभ्यर्चितशिराश्चंदनांगरागेण विलोभयन् विलास इव मूर्तिमान् कवितेव तनुमाश्रितः शृंगाररसस्य स्यंद इव सस्यंदो महेंद्र इव महीवलयं प्राप्तो विद्वान् । तं दृष्ट्वा सा विद्वत्परिषत् भयकौतुकयोः पात्रमासीत् । स च सर्वान्प्रणिपत्य प्राह । कुत्र भोजनृप इति । ते तमूचुरिदानीमेव सौधांतरगत इति । ततोऽसौ प्रत्येकं तेभ्यस्तांबूलं दत्त्वा गजेंद्रकुलगतः मृगेंद्र इवासीत् । ततः स महापुरुषः शंकरकविप्रदानेन कुपितान् तान् बुद्ध्वा प्राह । भवद्भिः शंकरकवये द्वादशलक्षाणि प्रदत्तानीति न मंतव्यम् । अभिप्रायस्तु राज्ञो नैव बुद्धः । यतः शंकरपूजने प्रारब्धे शंकरकविस्त्वेकेनैव लक्षेण पूजितः । किंतु तन्निष्ठान् तन्नाम्ना विभ्राजितानेकादश रुद्रान् शंकरानपरान् मतान्प्रत्यक्षान् ज्ञात्वा तेषां प्रत्येकमेकैकं लक्षं

तस्मै शंकरकवय एव शंकरमूर्तये प्रदत्तमिति राज्ञोऽभिप्राय इति। सर्वेऽपि चमत्कृतास्तेन। ततः कोऽपि राजपुरुषः तद्विद्वत्स्वरूपं ज्ञात्वाज्ञे निवेदयामास। राजा च स्वमभिप्रायं साक्षाद्विदितवंतं तं महेशमिव महापुरुषं मन्यमानः सभामभ्यगात्। स च स्वस्तीत्याह राजानम्। राजा च तमालिंग्य प्रणम्य निजकरकमलेन तत्करकमलमवलंब्य सौधांतरं गत्वा प्रोत्तुंगगवाक्ष उपविष्टः प्राह। विप्र! भवन्नाम्ना कान्यक्षराणि सौभाग्यावलंबितानि कस्य वा देशस्य भवद्विरहः सुजनानां बाधत इति। ततः कविर्लिखति राज्ञो हस्ते कालिदास इति। राजा वाचयित्वा पादयोः पतति। ततस्तत्रासीनयोः कालिदासभोजराजयोरासीत्संध्या। राजा सखे! संध्यां वर्णयेत्यवादीत्-

तिसके पीछे राजाने शङ्कर कविको बारह लाख रुपये दिये, तो सभामें स्थित सभी विद्वानोंका मुख मलीन होगया। किन्तु राजाके भयसे किसीने कुछ न कहा। (थोडी देर पीछे) राजा कार्यके वश महलमें गया। राजाके चले जानेपर सभी विद्वान् राजाकी निन्दा करने लगे। अहा! मूर्ख राजाकी सेवाही क्या है? वेदशास्त्रके ज्ञाता अपने आश्रित कवियोंके लिये लाखही रुपये दिये। इसकी परम प्रसन्नतासेही क्या है? यह तो केवल ग्रामीण कवि शङ्कर है। इसमें क्या विशेषता पाई। ऐसे कुलाहलके समयही सुवर्ण और मणियोंके कुंडलोंको धारें, दिव्य वस्त्रोंको पहिरे, राजकुमारकी समान अंगपर कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थ लगाये, नये फूलोंसे भूषित शिरवाले, चन्दनकी गंधसे सबको लुभाते कामदेवकी समान मूर्त्तिमान्, कविताकी समान शरीरधारी, शृंगाररसके रथकी समान रथयुक्त, इन्द्रकी समान भूमण्डलपर कोई विद्वान् आकर सभामें विराजमान हुए। उस विद्वान्को देख विद्वानोंकी सभा भयभीत और आश्चर्ययुक्त होगई। तब उस कविने सबको प्रणाम करके कहा—राजा भोज कहाँ है। उन कवियोंने कहा महाराज

महलमें गये हैं। फिर यह विद्वान् उन सभाके समस्त कवियोंको एक २ नागरपान देकर हाथियोंके बीच सिंहकी समान बैठगया और उस महापुरुषने शंकर कविके लिये १२ लाख रुपये देनेसे कुपित सभामें विराजमान सब पंडितोंसे कहा, तुम यह मत समझो कि राजाने शंकरकोही बारह लाख रुपये दिये हैं। तुमने राजाका अभिप्राय नहीं जाना। कारण शंकर (शिव) के पूजन करनेमें तो शंकर कविका एकही लाख रुपयेसे पूजन किया। किन्तु वैसेही निष्ठावाले उसी नामसे प्रकाशित हुए अन्य ११ ग्यारह रुद्रोंको मूर्तिमान् प्रत्यक्ष ग्यारह शंकरोंको जानकर उनको पृथक् २ एक २ लाख रुपये देनेके लिये उस शंकर कविको बारह लाख रुपये दे दिये, राजाका यह अभिप्राय जानो। ऐसे उसने सब कवियोंको आश्चर्यमय कर दिया। फिर किसी राजपुरुषने उस विद्वान्के स्वरूपको राजासे जाकर कहा। तब राजा अपने अभिप्रायके प्रत्यक्ष जाननेवाले उस महापुरुषको महादेवकी समान मानताहुआ सभामें आया। तो उस कविने राजाको 'स्वस्ति' कहा। राजाने उसको प्रणाम कर निज करकमलसे उसके करकमलको स्पर्श कर राजभवनमें जाय ऊँचे झरोखेवाले स्थानमें बैठकर पूंछा कि–हे विप्र! आपके नामसे कौन २ अक्षर सौभाग्यशाली हुए हैं? किस देशका आपसे वियोग हुआ? अर्थात्··आप किस देशसे पधारे? वहाँके सज्जनोंको तुम्हारे यहाँ आजानेसे बाधा होती होगी। तब उस कविने राजाके हाथपर 'कालिदास' लिख दिया। राजा उन अक्षरोंको बाँच उसके चरणोंमें गिरपडा। फिर वहां बैठे हुए कालिदास और राजा भोजको सायंकाल हो गया, तब राजाने कहा हे मित्र! सन्ध्यासमयका वर्णन करो।

व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पंकजश्री-।
गुणिन इव विदेशे दैन्यमायांति भृंगाः॥
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यंधकारो।
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः॥ ७७॥

हे राजन्! सन्ध्यामें कमलोंकी शोभा क्षीण हो जाती है जैसे व्यसनी पुरुषोंकी विद्या क्षीण हो जाती है, भ्रमर दीनभावको प्राप्त होते हैं जैसे गुणी

पुरुष विदेशमें दीनताको प्राप्त हो जाते हैं, अंधकार सबको पीडा देता है जैसे दुष्ट राजा अपनी प्रजाको पीडा देता है और सन्ध्यासमयमें कृपण जनके धनकी समान नेत्र व्यर्थ हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

पुनश्च राजानं स्तौति कविः ॥

फिर कवि राजाकी स्तुति करताहै ।

उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः ॥
उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति ॥ ७८ ॥

जबतक मित्रता न हो तबतक उपचार (सत्कार) करना चाहिये, जब मित्रता हो जाय तब उपचार करना ठगी है ॥ ७८ ॥

दत्ता तेन कविभ्यः पृथ्वी सकलापि कनकसंपूर्णा ॥
दिव्यां सुकाव्यरचनां क्रमं कवीनां च यो विजानाति ॥७९ ॥

जो राजा कवियोंकी काव्यरचनाको क्रमसे जानते हैं उन्होंने सुवर्णसे भरपूर समस्त पृथ्वी कवियोंको देदी ॥ ७९ ॥

सुकवेः शब्दसौभाग्यं सत्कविर्वेत्ति नापरः ॥
वंध्या न हि विजानाति परां दौर्हृदसंपदम् ॥ ८० ॥

उत्तम कविके शब्दोंके सौभाग्यको श्रेष्ठ कविके सिवाय दूसरा नहीं जानता, जैसे वंध्या स्त्री गर्भवतीकी अवस्थाको नहीं जानती है ॥ ८० ॥

इति । ततः क्रमेण भोजकालिदासयोः प्रीतिरजायत । ततः कालिदासं वेश्यालंपटं ज्ञात्वा तस्मिन्सर्वे द्वेषं चक्रुः । न कोऽपि तं स्पृशति । अथ कदाचित् सभामध्ये कालिदासमालोक्य भोजेन मनसा चिंतितं, कथमस्य प्राज्ञस्यापि स्मरपीडाप्रमाद इति । सोऽपि तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह-

ऐसा कहा, फिर क्रमानुसार भोज और कालिदासकी प्रीति होगई । कालिदासको वेश्यागामी जानकर सब विद्वान् द्वेष करने लगे ।

(यहांतक) कि कोईभी मनुष्य कालिदासको नहीं छूता है । किसी समय कालिदासको सभामें देखकर राजा भोजने विचारा कि इस पंडितकोभी कामदेवका कैसा प्रमाद है । तब कालिदासने राजाके अभिप्रायको जानकर कहा ।

चेतोभुवश्चापलताप्रसंगे का वा कथा मानुषलोकभाजाम् ॥
यद्दाहशीलस्य पुरां विजेतुस्तथाविधं पौरुषधर्ममासीत् ॥८१॥

कामदेवकी चपलताके विषयमें मनुष्यलोकवासी जनोंकी तो बातही क्या है । क्योंकि त्रिपुरासुरको जीतनेवाले महादेवके (अंगमें) भी कामदेव दृष्टि आता है इसीसे वह अर्द्ध पुरुष हो गये हैं, कामदेवकी बाधासेही शिवका अर्द्धांग स्त्रीका रूप है ॥ ८१ ॥

ततस्तुष्टो भोजराजः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । ततः कालिदासः भोजं स्तौति—

तब प्रसन्न होकर राजा भोजने एक २ अक्षरके एक २ लाख रुपये दिये फिर कालिदासने भोजकी स्तुति की—

महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते ।
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ॥
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृत् ।
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥ ८२ ॥

हे महाराज ! हे श्रीमन् ! आपके यशसे जगत् श्वेत होगया इसीसे यह परम पुरुष विष्णु क्षीरसागरको ढूंढ रहे हैं, महादेवजी कैलासको खोज रहे हैं, इन्द्र ऐरावत हाथीको ढूंढते हैं, राहु चन्द्रमाको खोजता है और ब्रह्माजी हंसको ढूंढ रहे हैं अर्थात् आपके यशसे उनको सब वस्तु श्वेतही दीखती हैं ॥ ८२ ॥

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगततीर्याति नालीकजन्मा ।
तक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुंदः ॥
सर्वानुत्तुंगशैलान् दहति पशुपतिः फालनेत्रेण पश्यन् ।
व्याप्ता त्वत्कीर्तिकांता त्रिजगति नृपते भोजराज क्षितींद्र ८३

हे पृथ्वीपति राजा भोज ! तुम्हारी कीर्तिरूपी कान्ता तीनों लोकोंमें व्याप्त होरही है । (पूर्वोक्त यशसे सब वस्तु श्वेत होगई हैं इसीसे) ब्रह्माजी जल और दूधको लेकर समस्त पक्षियोंके पास हंसकी परीक्षाके लिये जारहे हैं, विष्णुं भगवान् छाछ और मट्ठेको लेकर दूधकी परीक्षाके लिये समुद्रोंके पास जा रहे हैं, और अपने तीसरे अग्निस्वरूप नेत्रोंसे देखते हुए शिवजी समस्त ऊंचे २ पर्वतोंको दग्ध करते हुए कैलास पर्वतकी परीक्षा करते हैं ॥८३॥

विद्वद्राजशिखामणे तुलयितुं धाता त्वदीय यशः ।
कैलासं च निरीक्ष्य तत्र लघुतां निक्षिप्तवान् पूर्तये ॥
उक्षाणं तदुपर्युमासहचरं तन्मूर्ध्नि गंगाजलं ।
तस्याग्रे फणिपुंगवं तदुपरि स्फारं सुधादीधितम् ॥ ८४ ॥

हे विद्वन् ! हे नृपतिमणिमुकुट भोजराज ! आपके यशको तोलनेके लिये ब्रह्माजीने कैलासको देखा सो वह भी हलका हुआ, उसे पूरा करनेके लिये उस पर्वतपर नांदियाको स्थापित किया, तिसपर पार्वतीके साथ महादेवजीको बैठाला, महादेवजीके मस्तकपर गंगाजीको, तिसके सन्मुख शेपनागको और तिसके ऊपर अनेक अमृतकी किरणोंयुक्त चन्द्रमाको स्थापित किया ॥ ८४ ॥

स्वर्गाद्गोपाल कुत्र व्रजसि सुरमुने भूतले कामधेनो- ।
र्वत्सस्यानेतुकामस्तृणचयमधुना मुग्ध दुग्धं न तस्याः ॥
श्रुत्वा श्रीभोजराजप्रचुरवितरणं व्रीडशुष्कस्तनी सा ।
व्यर्थो हि स्यात् प्रयासस्तदपि तदरिभिश्चर्वितं सर्वमुर्व्याम् ॥८५॥

और भी संवाद है, (प्रश्न) हे गोपाल ! तू स्वर्गसे कहाँ जाता है ?

(उत्तर) हे सुरमुने ! कामधेनुके बछडेकेलिये घास लेनेको पृथ्वीपर जाताहूँ ।

(प्रश्न) हे मुग्ध ! क्या उस (कामधेनु) के दूध नहीं है ।

(उत्तर) राजा भोजके विशाल दानको सुनकर लाजसे उसके स्तनोंमें दूध सूंख गया है ।

१ तृणमपि भोजराजपराक्रान्तैः शत्रुभिर्वनवासिभिर्भक्षितम् ।

(प्रश्न) तेरा घास लानेका यत्न वृथा होगा कारण पृथिवीपरकी सब घास राजा भोजके वैरियोंने चाब डाली है ॥ ८९ ॥

तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। ततः कदाचित् श्रुतिस्मृति-सारं गताः केचिद्राजानं कवित्वप्रियं ज्ञात्वा कश्चिन्नगराद्बहि-र्भुवनेश्वरीप्रसादेन कवित्वं करिष्याम इत्युपविष्टाः तेष्वनेन पंडितं-मन्येन एकश्चरणोऽपाठि। भोजनं देहि राजेंद्रेति। अन्येनापाठि। घृतसूपसमन्वितमिति। उत्तरार्द्धं न स्फुरति ततो देवताभवनं कालिदासः प्रणामार्थमगात्। तं वीक्ष्य द्विजा ऊचुः। अस्माकं समग्रवेदविदामपि भोजः किमपि नार्पयति। भवादृशां हि यथेष्टं दत्ते। ततोऽस्माभिः कवित्वविधानधियात्रागतम्। चिरं विचर्या पूर्वार्धमभ्यधायि उत्तरार्धं कृत्वा देहि ततोऽस्मभ्यं किमपि प्रयच्छ-तीत्युक्त्वा तत्पुरस्तदर्धमभाणि। स च तच्छ्रुत्वा, माहिषं च शरच्चंद्रचंद्रिकाधवलं दधीत्याह। ते च राजभवनं गत्वा दौवारि-कानूचुः—वयं कवनं कृत्वा समागता राजानं दर्शयतेति। ते च कौतुकात् हसतो गत्वा राजानं प्रणम्य प्राहुः—

फिर प्रसन्न होकर राजाने एक २ अक्षरके एक २ लाख रुपये दिये। तिसके पीछे श्रुति-स्मृतिके ज्ञाता कविगण राजाको कविताप्रिय जानकर नगरसे बाहर भुवनेश्वरी देवीकी प्रसन्नतासे कविता करेंगे यह कहकर बैठगये, उनमेंसे एक अपनेको विद्वान् माननेवालेने एक पद पढा। " भोजनं देहि राजेन्द्र " हे राजेन्द्र! भोजन दो, दूसरेने पढा " घृतसूपसमन्वितम् " घी और दालसे युक्त हो, इस भाँतिसे दो चरण पूरे हुए और उत्तरार्द्ध नहीं बन सका। तब कालिदासजी प्रणाम करनेके लिये देवीके मंदिरमें गये, उनको देख-कर ब्राह्मणोंने कहा। ऐसे भी हमलोग समस्त वेदोंके ज्ञाताको राजा भोज कुछ नहीं देताहै और तुम्हारी समान मनुष्योंको इच्छानुसार देता है, इस कारण

कविता करनेकी इच्छासे हम यहाँ आये हैं चिरकालतक विचार करके श्लोकका पूर्वार्द्ध तो बना लिया अब उत्तरार्द्ध तुम बना दो तो राजा हमें कुछ देगा । यह कहकर उन्होंने वही आधा श्लोक कालिदासके आगे पढा कालिदास उस आधे श्लोकको सुनकर "माहिषं च शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलं दधि ।" शरत्कालके चन्द्रमाकी समान श्वेत भैंसका दही भी (भोजनमें) दो, यह कहा । फिर उन कवियोंने आकर ड्यौढीपर बैठे हुए द्वारपालोंसे कहा कि, हम कविता करके लाये हैं तुम राजाको दिखा दो । वे द्वारपाल आनंदके साथ हँसते हुए राजाके समीप जाकर प्रणाम करके बोले–

राजमाषनिभैर्दंतैः कटिविन्यस्तपाणयः ॥
द्वारि तिष्ठंति राजेंद्र च्छांदसाः श्लोकशत्रवः ॥ ८६ ॥

हे राजेंद्र ! उडदोंकी समान काले और बुरे दांतोंसे युक्त, कमरपर हाथ धरे वेदपाठी श्लोकके शत्रु पण्डित आये हैं ॥ ८६ ॥

इति राज्ञा प्रवेशितास्ते दृष्टराजसंसदो मिलिताः सहैव कवित्वं पठंति स्म । राजा तच्छ्रुत्वा उत्तरार्द्धं कालिदासेन कृतमिति ज्ञात्वा विप्रानाह । येन पूर्वार्धं कारितं तन्मुखात्कवित्वं कदाचिदपि न करणीयम् । उत्तरार्धस्य किंचिद्दीयते न पूर्वार्धस्येत्युक्त्वा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । तेषु कालिदासं वीक्ष्य राजा प्राह । कवे उत्तरार्धं त्वया पठितमिति । कविराह–

फिर राजाके बुलानेसे राजसभाको देख उन सबोंने मिलकर एकबार कविताको पढा । राजाने उस श्लोकको सुन उत्तरार्द्ध कालिदासका बनाया हुआ जान ब्राह्मणोंसे कहा । जिसने पूर्वार्द्ध बनाया है उसके मुखसे कविता मत कराना । उत्तरार्द्धका कुछ देते हैं, पूर्वार्द्धका कुछ नहीं मिलेगा । यह कहकर प्रत्येक अक्षरके लाख २ रुपये देदिये । उनमें कालिदासको देखकर राजाने कहा । हे कविराज ! उत्तरार्द्ध तुमने बनाया है । कविने कहा—

अधरस्य मधुरिमाणं कुचकाठिन्यं दृशोश्च तैक्ष्ण्यं च ॥
कवितायां परिपाकं ह्यनुभवरसिको विजानाति ॥ ८७ ॥

स्त्रियोंके अधरामृतकी मधुरता, कुचोंकी काठिनता, नेत्रोंकी तीक्ष्णता, कविताका भाव इन समस्त वस्तुओंके स्वादको अनुभवी पुरुषही जानता है ८७॥

राजा च सुकवे ! सत्यं वदसि—

राजाने कहा हे कविशिरोमणि ! सत्य वचन है ।

अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः ॥
चर्वणे सर्वसामान्ये स्वादुवित्केवलं कविः ॥ ८८ ॥

वाणीके काव्यरूपी अमृतफलमें अपूर्व रस जानपडता है । चावनेमें सबको समान है परन्तु स्वादको केवल कविही जानता है ॥ ८८ ॥

संचिंत्य संचिंत्य जगत् समस्तं त्रयः पदार्था हृदयं प्रविष्टाः ॥
इक्षोर्विकारा मतयः कवीनां मुग्धांगनापांगतरंगितानि ॥८९॥

समस्त जगत्की वार २ चिन्ता करनेसे तीन पदार्थ हृदयमें प्रविष्ट हो गये हैं । १ ईखका× विकार, २ कवियोंकी बुद्धि, और ३ मुग्धा. युवतियोंके कटाक्षोंकी लहरी ॥ ८९ ॥

ततः कदाचिद्द्वारपालकः प्रणम्य भोजं प्राह । राजन् ! द्रविडदेशात् कोऽपि लक्ष्मीधरनामा कविर्द्वारमध्यास्त इति । राजा प्रवेशयेत्याह । प्रविष्टमिव सूर्यमिव विभ्राजमानं चिरादप्यविदितवृत्तांतं प्रेक्ष्य राजा विचारयामास प्राह च—

फिर किसी दिन द्वारपालने आकर प्रणाम करके राजा भोजसे कहा हे राजन् ! द्रविडदेशसे लक्ष्मीधर नामक कोई कवि आकर द्वारे, खडा है । राजाने कहा उसको लाओ । उसके सभामें आतेसमय मानो सूर्यदेवही सभामें आगये ऐसे प्रतापीका चिरकालतक वृत्तांत सभामें नहीं जान पडा, उसे देखकर राजाने विचारकर कहा—

× गुड, शक्कर, चीनी आदि ।

आकारमात्रविज्ञानसंपादितमनोरथाः ॥
धन्यास्ते ये न शृण्वन्ति दीनाः काप्यर्थिनां गिरः ॥ ९० ॥

आकारमात्रके ज्ञानसे जो समस्त मनोरथोंको पूर्ण कर देते हैं, और याचकोंकी दीन वाणीको नहीं सुनते अर्थात् उन्हें धनी कर देते हैं वे धन्य हैं ॥ ९० ॥

स चागत्य तत्र राजानं स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः प्राह । देव इयं ते पंडितमंडिता सभा त्वं च साक्षाद्विष्णुरसि । ततः किं नाम पांडित्यं मम तथापि किंचिद्वच्मि—

इसके पीछे उस कविने राजाको (स्वस्ति) कहकर आशीर्वाद दिया और कहा, हे देव ! आपकी सभा पण्डितोंसे शोभित है उसमें आप साक्षात् विष्णुकी समान विराजमान हो, इस कारण मेरा क्या पाण्डित्य है तोभी कुछ कहता हूँ—

भोजप्रतापं तु विधाय धात्रा शेषैर्निरस्तैः परमाणुभिः किम् ॥
हरेः करेऽभूत्पविरंबरे च भानुः पयोधेरुदरे कृशानुः ॥ ९१ ॥

विधाताने जब राजा भोजके प्रतापको रचा तो निरन्तर अस्त हुए परमाणुओंसे क्या हो सक्ता है । यही विचारकर इन्द्रके हाथमें वज्र दिया, आकाशमें सूर्य निर्माण किया और सागरमें वाडवज्वाला बनाई ॥ ९१ ॥

इति । ततस्तेन परिषच्चमत्कृता । राजा च तस्य प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । पुनः कविराह । देव मया सकुटुंबेनात्र निवासाशया समागतम् ॥

इसके पीछे उस कविने समस्त सभामें स्थित पुरुषोंको चमत्कृत कर दिया । राजानेभी उसके एक २ अक्षरके लाख २ रुपये दिये तब कविने कहा हे देव ! मैं सकुटुम्ब आपके यहाँ रहनेकी अभिलाषासे आया हूँ ।

क्षमी दाता गुणग्राही स्वामी पुण्येन लभ्यते ॥
अनुकूलः शुचिर्दक्षः कविर्विद्वान्सुदुर्लभः ॥ ९२ ॥ इति ।

क्षमायुत दाता और गुणग्राही स्वामी पुण्यके प्रतापसे प्राप्त हो जाता है; परन्तु अनुकूल, पवित्र, चतुर और विद्वान् कवि मिलना दुर्लभ है ॥ ९२ ॥

ततो राजा मुख्यामात्यं प्राहास्मै गृहं दीयतामिति । ततो निखिलमपि नगरं विलोक्य कमपि मूर्खममात्यो नापश्यत् यं निरस्य विदुषे गृहं दीयते । तत्र सर्वत्र भ्रमन् कस्यचित्कुविंदस्य गृहं वीक्ष्य कुविंदं प्राह । कुविंद । गृहान्निःसर तव गृहं विद्वानेष्यतीति । ततः कुविंदो राजभवनमासाद्य राजानं प्रणम्य प्राह । देव! भवदमात्यो मां मूर्खं कृत्वा गृहान्निःसारयतीति । त्वं तु पश्य मूर्खः पंडितो वेति–

फिर राजाने प्रधानमंत्रीसे कहा पंडितजीके लिये घर दो । तब मंत्रीने सभी नगरको देखा पर किसीको भी मूर्ख नहीं पाया जिसे निकालकर पंडितको घर दियाजाय । नगरमें घूमतेहुए मंत्रीने किसी वस्त्र बुननेवाले (जुलाहे) को देखकर कहा । हे कुविन्द (जुलाहे) ! तू घरसे निकलजा तेरा घर पंडितजीके रहनेको दिया जायगा । तब वह जुलाहा राजसभामें आकर राजाको प्रणाम करके बोला । हे देव ! आपका मंत्री मुझे मूर्ख कहकर घरसे निकाले देता है, सो आप देखिये, कि मैं मूर्ख हूँ वा विद्वान् हूँ ।

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि ।
यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि ॥
भूपालमौलिमणिमंडितपादपीठ ।
हे साहसांक कवयामि वयामि यामि ॥ ९३ ॥

काव्य करता हूँ तो वह सुन्दर नहीं होता और जो सुन्दर करता हूँ तो देरमें कर सक्ता हूँ हे सम्राट् ! हे साहसांक ! हे राजन् ! मैं कविकी समान आचरण करता हूँ पर तोभी अपने जुलाहेके काम करनेको जाता हूँ ॥ ९३ ॥

ततो राजा त्वंकारवादेन वदंतं कुविंदं प्राह । ललिता ते

पदपंक्तिः। कवितामाधुर्यं च शोभनम्। परंतु कवित्वं विचार्य वक्तव्यमिति ॥

फिर राजाने 'तू' 'तेरे' एकवचनसे कुविन्द (जुलाहे) से कहा। तेरे पदोंकी पंक्ति ललित है और कविता भी मधुर एवं सुन्दर है परन्तु कविताको विचारकर कहना चाहिये।

ततः कुपितः कुविंदः प्राह। देव अत्रोत्तरं भाति किंतु न वदामि राजधर्मः पृथक् विद्वद्धर्मादिति। राजा प्राह अस्ति चेदुत्तरं ब्रवीहि। देव ! कालिदासादृतेऽन्यं कविं न मन्ये कोऽस्ति ते सभायां कालिदासादृते कवितातत्त्वविद्विद्वान् ? ॥

तो क्रोधित हो जुलाहेने कहा। हे देव ! इसका उत्तर दृष्टि आता है किन्तु मैं नहीं कहता, कारण विद्वान्के धर्म्मसे राजधर्म्म पृथक् है। राजाने कहा जो उत्तर है तो कहो। (जुलाहेने कहा) हे देव ! कालिदासके सिवाय अन्यको मैं कवि नहीं मानता हूँ, तेरी सभामें कालिदासके अतिरिक्त कविताके तत्त्वको जाननेवालाही कौन है ?

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं।
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम् ॥
कासारे दिवसं वसन्नपि पयःपूरं परं पंकिलं।
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः ॥ ९४ ॥

जो गुरुदेवकी कृपारूपी अमृतपाकसे सरस्वती (वाणी) का ऐश्वर्य्य प्रकट होता है वह कविसेही मिलता है। हठसे पाठप्रतिष्ठाके सेवन करनेवालेको नहीं मिलता। (जैसे) जलपूर्ण सरोवरमें समस्त दिन पडे रहनेसे भैंसा जलको गँदला करनेके सिवाय सरोवरकी सुगन्धिको नहीं ले सक्ता है ॥ ९४ ॥

अयं मे वाग्गुंफो विशदपदवैदग्ध्यमधुरः।
स्फुरद्बंधो वंध्यः परहृदि कृतार्थः कविहृदि ॥

कटाक्षो वामाक्ष्या दरदलितनेत्रांतगलितः।
कुमारे निःसारः स तु किमपि यूनः सुखयति ॥ ९५ ॥

यह मेरी वाणीके द्वारा रचा हुआ ग्रंथ है, सो उत्तम पदोंसे युक्त और कवियोंको प्रिय है। इसमें छन्दबंध स्फुरते हैं। यह कवियोंके हृदयको कृतार्थ करता है और औरोंके हृदयमें त्राँश स्त्रीकी समान निष्फल है। जैसे स्त्रियोंका कटाक्ष युवकोंको सुखद और बालकोंको निष्फल है॥ ९५ ॥

इति। विद्वज्जनवंदिता सीता प्राह ॥

फिर विद्वानोंसे वंदित हुई सीताने कहा–

विपुलहृदयाभियोग्ये खिद्यति काव्ये जडो न मौर्ख्ये स्वे ॥
निंदति कंचुकमेव प्रायः शुष्कस्तनी नारी ॥ ९६ ॥

मूर्ख उत्तम काव्यकी (जो विद्वानोंके समझने योग्य है उसकी) निन्दा करते वह अपनी मूर्खताकी निन्दा नहीं करते हैं, जैसे क्षिण कुचोंवाली स्त्री कंचुकी (चोली) सीनेवाले दरजीकी निन्दा करती है॥ ९६ ॥

ततः कुविंदः प्राह–

फिर उस जुलाहे कविने कहा–

बाल्ये सुतानां सुरतेऽगनानां स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम् ॥
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः कस्ते प्रभो मोहतरः स्मर त्वम् ९७

बाल्यावस्थामें पुत्रोंको, मैथुनके समय स्त्रियोंको, स्तुति करनेमें कवियोंको और रणमें योद्धाओंको त्वंकार (तू) शब्दसे वाणी शोभा पाती है। हे प्रभो! तुम्हें इतना प्रबल मोह क्यों हुआ जो तुमने 'तू' शब्दसे मुझे संबोधन दिया उसको स्मरण कीजिये॥ ९७ ॥

ततो राजा साधु भो कुविंदेत्युक्त्वा तस्याक्षरलक्षं ददौ। मा भैषीरिति पुनः कुविंदं प्राह। एवं क्रमेणातिक्रांते कियत्यपि काले बाणः पंडितवरः परं राज्ञा मान्यमानोऽपि प्राक्तनकर्मतो दारिद्र्यमनु-

भवति। एवंस्थिते नृपतिः कदाचिद्रात्रावेकाकी प्रच्छन्नवेशः स्वपुरे चरन् बाणगृहमेत्यातिष्ठत्। तदा निशीथे बाणो दारिद्र्याद्व्याकुलतया कांतां वक्ति देवि! राजा कियद्वारं मम मनोरथमपूरयत्। अद्यापि पुनः प्रार्थितो ददात्येव। परंतु निरंतरप्रार्थनारसे मूर्खस्यापि जिह्वा जडीभवतीत्युक्त्वा मुहूर्तार्धं मौनेन स्थितः। पुन पठति—

इसके पीछे राजाने कुविंदसे कहा, तुमने वहुत ठींक कहा फिर एक २ अक्षरके लाख २ रुपये दिये। और जुलाहेसे कहा अब तुम मत डरो। इस भाँति क्रमानुसार कुछ काल वीतनेपर राजाका माननीय बाणनामक पंडित पूर्व कर्मोंके वश दरिद्री होगया। इसी दशामें एकदिन राजा अकेलेही रात्रिमें अपने वेषको वदले हुए नगरमें घूमता हुआ बाण पंडितके घरके समीप स्थित हुआ। उसी रात्रिमें बाण पण्डितने दरिद्रतासे व्याकुल हो अपनी स्त्रीसे कहा, हे देवि! राजाने अनेकवार मेरे मनोरथोंको पूरा किया है और फिर भी प्रार्थना करनेसे कुछ देताही है। लेकिन् वृथा याचनासे मूर्खकी भी जिह्वा जड होजाती है अर्थात् प्रतिदिन नहीं माँगाजाता, यह कह एक घडीलों चुप रहा, फिर पढने लगा।

हर हर पुरहर परुषं क्व हलाहलफल्गुयाचनावचसोः॥
एकैव तव रसज्ञा तदुभयरसतारतम्यज्ञा॥ ९८॥

हे हरहर! हे पुरहर (त्रिपुरासुरके पुरोंके नाशक शिव)! हलाहल विष और निरर्थक याचना इन दोनोंमें कौन कठोर है? इन दोनोंमें न्यूनाधिक जाननेवाली जिह्वा तो एकही है। शिवजीने विषपान कियाहै और याचना भी की है यह शिवजीके लिये कहाहै अर्थात् वृथा की याचना विषसे भी बुरी है॥ ९८॥

देवि!

दारिद्र्यस्यापरा मूर्तिर्याच्ञा न द्रविणान्यपि॥
अपि कौपीनवान् शंभुस्तथापि परमेश्वरः॥ ९९॥

हे देवि ! दारिद्र्यकी परम मूर्त्ति याचना है, कुछ धनका अभावही दारिद्र्यकी विशाल मूर्त्ति नहीं है, कारण शिवजी कौपीनधारी निर्द्धनी होनेपरभी परमेश्वर हैं ॥ ९९ ॥

सेवा सुखानां व्यसनं धनानां ।
याच्ञा गुरूणां कुनृपः प्रजानाम् ॥
प्रणष्टशीलस्य सुतः कुलानां ।
मूलावघातः कठिनः कुठारः ॥ १०० ॥

सेवा समस्त सुखोंकी जडको काटनेवाली कठिन कुल्हाडी है, धनकी जडको काटनेवाले कठिन कुल्हाडेस्वरूप व्यसन है, गौरवताकी जडको काटनेवाली कठिन कुल्हाडीरूपी याचना है, प्रजाकी जडको काटनेवाला कठिन कुठारस्वरूप दुष्ट राजा है और कुलकी जडको काटनेवाला कठिन कुठारस्वरूप दुःशील मनुष्यका पुत्र है ॥ १०० ॥

तत्सत्यपि दारिद्र्ये राज्ञो वक्तुं मया स्वयमशक्यम् ॥

अतएव दरिद्र होनेपर राजासे मैं स्वयं कहनेके लिये असमर्थ हूँ ।

गच्छन् क्षणमपि जलदो वल्लभतामेति सर्वलोकस्य ॥
नित्यप्रसारितकरः करोति सूर्योऽपि संतापम् ॥ १०१ ॥

क्षणकाल वर्षा करनेवाला मेघ सबको प्यारा लगता है और प्रतिदिन अपनी किरणोंको फैलाता हुआ सूर्य सबको सन्ताप देता है ॥ १०१ ॥

किंच देवि, वैश्वदेवावसरे प्राप्ताः क्षुधार्ताः पश्चाद्यांतीति तदेव मे हृदयं दुनोति ॥

परन्तु हे देवि ! वैश्वदेव कर्मके समय आयेहुए मनुष्य भूँखे जाते हैं, यही मेरे हृदयको सन्ताप होता है ।

दारिद्र्यानलसंतापः शांतः सन्तोषवारिणा ॥
याचकाशाविघातांतर्दाहः केनोपशाम्यते ॥ १०२ ॥

दारिद्र्यरूपी अनलका सन्ताप सन्तोषरूपी जलसे शान्त होजाता है, किंतु याचकके निराश होनेकी अन्तर्ज्वाला किससे शान्त होसक्ती है ॥ १०२ ॥

राजा चैतत्सर्वं श्रुत्वा नेदानीं किमपि दातुं योग्यः, प्रातरेव बाणं पूर्णमनोरथं करिष्यामीति निष्क्रांतः ॥

राजाने इस सब वृत्तान्तको सुना और विचारा कि इस समय कुछ नहीं देना चाहिये, प्रातःकालही बाणपण्डितकी अभिलाषा पूर्ण करूंगा यह कहकर चल दिया ।

कृतो येन च वाग्मी च व्यसनी तन्न यैः पदम् ॥
यैरात्मसदृशो नार्थी किं तैः काव्यैर्बलैर्धनैः ॥ १०३ ॥

जिस काव्यने मूर्खको विद्वान् नहीं बनाया, जिस बलीने व्यसनीको इच्छित स्थानपर न पहुँचाया और जिस धनीने याचकको अपनी समान धनी न बनाया, उस काव्य, बली और धनीको वृथा जानो ॥ १०३ ॥

एवं पुरे परिभ्रममाणे राजनि वर्त्मनि चोरद्वयं गच्छति । तयोरेकः प्राह शकुंतकः । सखे स्फारांधकारविततेऽपि जगत्यंजनवशात्सर्वं परमाणुप्रायमपि वस्तु सर्वत्र पश्यामि । परंतु संभारगृहानीतकनकजातमपि न मे सुखायेति । द्वितीयो मरालनामा चोर आह । आहृतं संभारगृहात् कनकजातमपि न हितमिति कस्माद्धेतोरुच्यते इति । ततः शकुंतकः प्राह—सर्वतो नगररक्षकाः परिभ्रमंति सर्वोऽपि जागरिष्यत्येषां भेरीपटहादीनां निनादेन । तस्मादाहृतं विभज्य स्वस्वभागागतं धनमादाय शीघ्रमेव गंतव्यमिति । मरालः प्राह । सखे ! त्वमनेन कोटिद्वयपरिमितमणिकनकजातेन किं करिष्यसीति । शकुंतः—एतद्धनं कस्मैचिद्द्विजन्मने दास्यामि । यथायं वेदवेदांगपारगो अन्यं न प्रार्थयति । मरालः—सखे ! चारु ॥

इस भाँति राजा घूमरहाथा उसी समय मार्गमें दो चोर जारहेथे, उनमेंसे 'शकुन्तक' नामक चोरने कहा, हे सखे ! यद्यपि घोर अंधकार फैलरहा है तोभी मैं सिद्धाञ्जनके वश जगत्में सब कुछ देखता हूँ, परमाणुमात्र द्रव्यको भी सब स्थानोंमें देखता हूँ परन्तु खजानेसे लायाहुआ सुवर्णादि समस्त धन मेरे सुखके लिये नहीं है । दूसरे 'मराल' नामक चोरने कहा जो खजानेसे लाये सुवर्णमात्र भी हितकारी नहीं यह इच्छा क्यों होती है ? तब 'शकुन्तक' ने कहा सभी स्थानोंमें नगरके रखवाले सिपाही विचररहे हैं और भेरी, ढोल आदि शब्दोंसे सब जाग उठेंगे, अतएव चुरायेहुए धनको बाँटकर अपने २ हिस्सेके धनको लेकर शीघ्र चलना चाहिये । 'मराल' ने कहा–हे सखे ! लगभग दो करोड सुवर्ण मणि आदि धनको क्या करोगे । शकुन्तने कहा धनको किसी ब्राह्मणके लिये देदूंगा जिससे वेद वेदाङ्गका ज्ञाता ब्राह्मण फिर किसी दूसरेसे न मांगे । 'मराल' ने कहा हे सखे ! बहुत अच्छा विचारा है ।

ददतो युध्यमानस्य पठतः पुलकोऽथ चेत् ॥
आत्मनश्च परेषां च तद्दानं पौरुषं स्मृतम् ॥ १०४ ॥

दान करते, युद्ध करते और पाठ करते हुए मनुष्यके यदि रोमटे खडे होजाँय तो दान एवं पुरुषार्थ कहते हैं ॥ १०४ ॥

मरालः–अनेन दानेन तव कथं पुण्यफलं भविष्यतीति । अस्माकं पितृपैतामहोऽयं धर्मः यच्चौर्य्येण वित्तमानीयते । मरालः–शिरच्छेदमंगीकृत्यार्जितं द्रव्यं निखिलमपि कथं दीयते । शकुन्तः–

मराल बोला–इस दानके द्वारा तुम्हें पुण्यका फल कैसे मिलेगा ? (शकुन्तकने कहा) हमारे बाप दादोंका यही धर्म है कि--चोरी करके धन पैदा करना चाहिये । मरालने पूछा, शिर कटाना स्वीकार करके पैदा किया हुआ धन कैसे दिया जायगा ? शकुन्तकने कहा–

मूर्खो नहि ददात्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया ॥
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया ॥ १०५ ॥

मूर्ख दारिद्रकी शङ्कासे धनको नहीं देता है और बुद्धिमान् पुरुष दारिद्रकीही शङ्कासे धन देता है, अर्थात्-दारिद्रके आनेसे धन नष्ट होजायगा इससे दान करनाही श्रेष्ठ है ॥ १०५ ॥

किंचिद्वेदमयं पात्रं किंचित्पात्रं तपोमयम् ॥
पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे ॥ १०६ ॥

वेदपाठी कुछ पात्र है और तप करनेवाला भी कुछ पात्र है परन्तु शूद्रके अन्नसे उदरको बचानेवालाही सब पात्रोंमें श्रेष्ठ सत्पात्र है ॥ १०६ ॥

शकुंतः-अनेन वित्तेन किं करिष्यति भवान्। मरालः-सखे! काशीवासी कोऽपि विप्रबटुरत्रागात् तेनास्मत्पितुः पुरः काशीवासफलं व्यावर्णितम्। ततोऽस्मत्तातः बाल्यादारभ्य चौर्यं कुर्वाणो दैववशात् स्वपापान्निवृत्तो वैराग्यात्सकुटुम्बः काशीमेष्यति। तदर्थमिदं द्रविणजातम्। शकुंतः-महद्भाग्यं तव पितुः। तथाहि-

शकुन्तने कहा हे मित्र! इस धनसे तुम क्या करोगे ? मराल बोला काशीवासी कोई ब्राह्मणकुमार यहां आया, उसने मेरे पितासे काशीवास करनेका फल वर्णन किया, उससे मेरा पिता बालकपनसे चोरी करते रहनेपर भी दैवयोगसे अपने पापद्वारा निवृत्त हो वैराग्य उत्पन्न होजानेके कारण सकुटुम्ब काशीको जायगा उसीके लिये यह सकल धन है। शकुन्तने कहा, तेरा पिता बडा भाग्यशाली है, देखो-

वाराणसीपुरीवासवासनावासितात्मना ॥
किं शुना समतां याति वराकः पाकशासनः ॥ १०७ ॥

काशीपुरीमें वास करनेकी इच्छा रखनेवाले कुत्तेकी समान क्या गरीब इन्द्र होसक्ता है ? अर्थात्-इन्द्रभी उस कुत्तेकी बराबरी नहीं करसक्ता है ॥ १०७ ॥

ऊषरं कर्म सस्यानां क्षेत्रं वाराणसी पुरी ॥
यत्र संलभ्यते मोक्षः समं चंडालपंडितैः ॥ १०८ ॥

काशीपुरी कर्मरूपी बीजोंका ऊषरखेत है, अर्थात् काशीजीमें सब कर्म नष्ट होजाते हैं, क्योंकि जहाँ चाण्डाल और विद्वान् समानरूपसे मोक्ष पाता है १०८॥

मरणं मंगलं यत्र विभूतिश्च विभूषणम् ॥
कौपीनं यत्र कौशेयं सा काशी केन मीयते ॥ १०९ ॥

जिस काशीजीमें मरना मंगलस्वरूप है, विभूति अलङ्कारस्वरूप है और कौपीन रेशमी वस्त्रकी समान है उस काशीपुरीकी कौन बराबरी करसक्ता है॥ १०९॥

एवमुभयोः संवादं श्रुत्वा राजा तुतोष। अचिंतयच्च मनसि कर्मणां गतिः सर्वथैव विचित्रा । उभयोरपि पवित्रा मतिरिति । ततो राजा विनिवृत्य भवनांतरे पितृपुत्रावपश्यत् । तत्र पिता पुत्रं प्राह। इदानीं परिज्ञातशास्त्रतत्त्वोऽपि नृपतिः कार्पण्येन किमपि न प्रयच्छति। किंतु—

ऐसे उन दोनों (चोरों) के संवादको सुन राजा प्रसन्न हुआ और मनमें कर्मोंकी गतिको विचारने लगा । सभी विचित्रता है किन्तु दोनोंकी बुद्धि पवित्र है, इसके उपरान्त राजा दूसरे स्थानपर पहुँचा वहाँपर पिता पुत्रको देखा, पिता पुत्रसे बोला अब शास्त्रके तत्त्वको जाननेवाला भी राजा कृपणतासे कुछ नहीं देता है, किन्तु—

अर्थिनि कवयति कवयति पठति च पठति स्तवोन्मुखे स्तौति ॥
पश्चाद्यामीत्युक्ते मौनी दृष्टिं निमीलयति ॥ ११० ॥

अर्थी और कवि पुरुषोंकी कवितापर कविता करता है, पढतेहुएपर पढता है और स्तुति करनेपर स्तुति करता है फिर मैं जाताहूँ ऐसा कहनेपर मौन होकर नेत्र मींचलेता है ॥ ११० ॥

राजा एतच्छ्रुत्वा तत्समीपं प्राप्य मैवं वदेति स्वगात्रात्सर्वाभरणान्युत्तार्य ददौ तस्मै । ततो गृहमासाद्य कालांतरे सभामुपविष्टः कालिदासं प्राह—सखे !

राजा इस बातको सुन उसके पास जाकर बोला--ऐसा मत कहो, यह कह अपने शरीरसे सब आभूषणोंको उतार उसे देदिया फिर अपने घर आय किसी दिन सभामें बैठ कालिदाससे कहा--सखे !

कवीनां मानसं नौमि तरन्ति प्रतिभांभसा ॥

ततः कविराह—

यत्पोतेन पयांसीव भुवनानि चतुर्दश ॥ १११ ॥

मैं कवियोंके मनको प्रणाम करताहूँ, जिनकी प्रतिमा जलमें तिरजाती है । तब कालिदासने कहा--उसी प्रतिभारूपी डोंगीसे चौदह भुवनके पार जायाजाता है ॥ १११ ॥

ततो राजा प्रत्यक्षरमुक्ताफललक्षं ददौ । ततः प्रविशति द्वारपालः । देव ! कोऽपि कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि तिष्ठतीति । राजा प्रवेशय । ततः प्रवेशितः कविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह—

इसके पीछे राजाने एक २ अक्षरके एक २ लाख मोती दिये, तिस पीछे द्वारपालने सभामें आकर कहा--हे देव ! कोई कौपीन धारेहुए विद्वान् द्वारे खडा है । राजाने कहा उसे भीतर लाओ । तब कवि सभामें गया और " स्वस्ति " कहकर राजाकी आज्ञासे बैठगया और बोला--

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा-।
मिह हि निहितभाराः सागराः सप्त चैव ॥
इदमतुलमनंतं भूतलं भूरि भूतो-।
द्भवधरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम् ॥ ११२ ॥

इस स्थानपर पर्वतोंका शिखररूप सुमेरु पर्वत बसताहै, इसी स्थानपर सकल भारोंसमेत सात समुद्र वसतेहैं और यह तुम्हारा स्थान अतुल अनन्त भूखंडस्वरूप है एवं अनेक प्राणियोंकी उत्पत्ति धारण करनेको समर्थ है ॥ ११२ ॥

१ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा इति रुद्रः ।

राजा महाकवे ! किं ते नाम अभिधत्स्व । कविः नामग्रहणं नोचितं पंडितानां, तथापि वदामो यदि जानासि ॥

राजाने कहा, कि हे महाकवे ! तुम्हारा क्या नाम है सो वताओ । कविने कहा पंडितोंको अपना नाम लेना उचित नहीं तोभी यदि जानना चाहते हो तो कहूँगा ।

नहि स्तनंधयी बुद्धिर्गंभीरं गाहते वचः ॥
तलं तोयनिधेर्द्रष्टुं यष्टिरस्ति न वैणवी ॥ ११३ ॥

स्तनपान करनेवाले दुधमुहे वालककी बुद्धि गंभीर वचनकी थाहको नहीं जानसक्ती जैसे वाँसकी लकडी समुद्रकी तलीको नहीं ढूंढसक्ती है ॥ ११३ ॥

देवाकर्णय—

हे देव ! सुनिये—

च्युतामिंदोर्लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं ।
समं चक्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया ॥
अवोचद्यं पश्येत्यवतु गिरिशः सा च गिरिजा ।
स च क्रीडाचंद्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥ ११४ ॥

शिव और पार्वतीजीकी रतिके कलहमें शिवजीके मस्तकपर विराजमान चंद्रकला गिरगई और इधर पार्वतीजीका कङ्कन टूटगया, तो इन दोनोंको वरावर करके चक्रकी समान वनाय हँसतीहुई पार्वतीजीने कहा, यह देखो, यह दाँतोंकी किरणोंसे (चंद्रपक्षमें ३२ किरणोंसे) युक्त शरीरवाला क्रीडा-चंद्र एवं पार्वतीजी और शिवजी तुम्हारी रक्षा करें ॥ ११४ ॥

कालिदासः सखे ! क्रीडाचंद्र चिरदृष्टोऽसि । कथमीदृशी ते दशा मंडले मंडले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति । क्रीडाचंद्रः—

कालिदासने कहा हे सखे क्रीडाचंद्र ! चिरकालमें तुम्हें देखा है, तुम्हारी यह दशा क्यों होगई ? मंडल २ में धनी और राजाओंके विराजमान होनेपरभी यह अवस्था क्यों हुई ? क्रीडाचन्द्रने कहा—

धनिनोऽप्यदानविभवा गण्यन्ते धुरि महादरिद्राणाम् ॥
हंति न यतः पिपासामतः समुद्रोऽपि मरुरेव ॥ ११५ ॥

जिनके दानरूपी ऐश्वर्य नहीं है, वे धनी मनुष्यभी महादरिद्रियोंमें आगे गिने जाते हैं, जिससे तृषा शान्त न हो वह समुद्रभी मरुस्थलके समान है॥११५॥

किंच—उपभोगकातराणां पुरुषाणामर्थसंचयपराणाम् ।
कन्यामणिरिव सदने तिष्ठत्यर्थः परस्यार्थे ॥ ११६ ॥

जो लक्ष्मीको नहीं भोगते और केवल धनकोही संचय करते हैं, उनका धन घरमें कन्यारूपी रत्नकी समान दूसरेकाही जानो ॥ ११६ ॥

सुवर्णमणिकेयूराडंबरैरन्यभूभृतः ॥
कलयैव पदं भोज तेषामाप्नोति सारवित् ॥ ११७ ॥

हे भोज ! अन्य राजा तो सुवर्ण मणि बाजूबंद आदि आडम्बरोंसे विराजमान रहते हैं और सारवेत्ता अपनी कलासेही उन स्थानोंको प्राप्त होतेहैं ११७

सुधामयानीव सुधां गलंति विदग्धसंयोजनमंतरेण ॥
काव्यानि निर्व्याजमनोहराणि वारांगनानामिव यौवनानि॥११८॥

विदग्ध अक्षरोंसे रहित कवियोंके काव्य अमृतमय हैं और उनसे अमृत झरता है जैसे वेश्याओंका निष्कपट यौवन सभीको अमृतकी समान सुख देता है ॥ ११८ ॥

ज्ञायते जातु नामापि न राज्ञः कवितां विना ॥
कवेस्तद्व्यतिरेकेण न कीर्तिः स्फुरति क्षितौ ॥ ११९ ॥

विना कविताके राजाका नाम नहीं जानाजाता और उस राजाके विना कविकी कीर्तिभी पृथ्वीपर प्रगट नहीं होती है ॥ ११९ ॥

मयूरः—

ते वंद्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः ॥
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्ये प्रकीर्तिताः ॥ १२० ॥

(सभामें स्थित) मयूर कविने कहा—जो काव्यको करते हैं और जिनके काव्यमें बखान होता है, वेही धन्य हैं, वेही महात्मा हैं और उन्हींका यश संसारमें अटल रहता है ॥ १२० ॥

वररुचिः—

पदव्यक्तव्यक्तीकृतसहृदयावंचललिते ।
कवीनां मार्गेऽस्मिन्स्फुरति बुधमात्रस्य धिषणा ॥
न च क्रीडालेशव्यसनपिशुनोऽयं कुलवधू- ।
कटाक्षाणां पंथाः स खलु गणिकानामविषयः ॥ १२१ ॥

सभामें स्थित वररुचि कविने कहा—पदोंके प्रकट करनेमें हृदयका अभिप्राय प्रकट किया है, कवियोंके इस मार्गमें पण्डितमात्रकी बुद्धि फुरती है । यह मार्ग क्रीडाके लेशका और व्यसनका विरोधी नहीं किन्तु कुलवधुओंके कटाक्षोंका मार्ग है, यह वेश्याओंका विषय नहीं है ॥ १२१ ॥

राजा क्रीडाचंद्राय विंशतिं गजेंद्रान् ग्रामपंचकं च ददौ । ततो राजानं कविः स्तौति—

राजाने क्रीडाचन्द्रके लिये बीस हाथी और पाँच गाँव दिये, पीछे कविने राजाकी स्तुति की—

कंकणं[1] नयनद्वंद्वे तिलकं[2] करपल्लवे ॥
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम् ॥ १२२ ॥

अहा ! आश्चर्य्य है !! कि राजा भोजके शत्रुओंकी स्त्रियोंके अद्भुत आभूषण हैं दोनों नेत्रोंमें कंकण (जलकी बूंदें, आँसू) हैं और हाँथोंमें तिलक (तिलोदक) है ॥ १२२ ॥

तुष्टो राजा पुनरक्षरलक्षं ददौ । ततः कदाचित् कोऽपि जराजीर्णसर्वांगसंधिः पंडितो रामेश्वरनामा सभामभ्यगात् । स चाह—

---

१ कंकणे उदकबिंदुः । २ तिलोदकम् ।

प्रसन्न होकर फिर राजाने एक २ अक्षरके एक २ लाख रुपये दिये। तिसके पीछे किसी समय जरा अवस्थासे शिथिल शरीरवाला रामेश्वरनामक वृद्ध पण्डित सभामें आकर बोला-

पंचाननस्य सुकवेर्गजमांसैर्नृपश्रिया ॥
पारणा जायते क्वापि सर्वत्रैवोपवासिनः ॥ १२३ ॥

सब स्थानोंमें उपवास व्रत करनेवाले कविकी और निराहार व्रत करनेवाले सिंहकी पारणा हाथीके मांससे और राजाके ऐश्वर्यसे होती है ॥ १२३ ॥

वाहानां पंडितानां च परेषामपरो जनः ॥
कवींद्राणां गजेंद्राणां ग्राहको नृपतिः परः ॥ १२४ ॥

वाहन और पण्डितोंके ग्राहक तो अन्य पुरुषभी हो जातेहैं परन्तु श्रेष्ठ कवियोंके और श्रेष्ठ हाथियोंके ग्राहक श्रेष्ठ राजाही होता है ॥ १२४ ॥

एवं हि-

सुवर्णैः पट्टचैलैश्च शोभा स्याद्वारयोषिताम् ॥
पराक्रमेण दानेन राजंते राजनंदनाः ॥ १२५ ॥

ऐसेही-सुवर्ण और रेशमी वस्त्रोंसे वेश्या शोभा पाती है एवं पराक्रम और दानके द्वारा राजकुमारकी शोभा होती है ॥ १२५ ॥

इत्याकर्ण्य राजा रामेश्वरपंडिताय सर्वाभरणान्युत्तार्य लक्षद्वयं प्रायच्छत्। ततः स्तौति कविः-

यह सुनकर समस्त आभूषणोंको उतार रामेश्वर पंडितके लिये दो लाख रुपये दिये। तब उस कविने राजाकी स्तुति की है--

भोज त्वत्कीर्तिकांताया नभोभाले स्थितं महत्।
कस्तूरीतिलकं राजन् गुणाकर विराजते ॥ १२६ ॥

हे राजन्! हे गुणनिधान! आपकी कीर्तिरूपी कान्ता (स्त्री) का विशाल कस्तूरीका तिलक आकाशके भालपर स्थित है, अर्थात् आपकी विशाल कीर्त्ति स्वर्गधामतक फैलगई है ॥ १२६ ॥

बुधाग्रे न गुणान्ब्रूयात् साधु वेत्ति यतः स्वयम् ॥
मूर्खाग्रेऽपि च न ब्रूयाद् बुधप्रोक्तान्न वेत्ति सः ॥ १२७ ॥

पण्डितके सन्मुख गुणोंका बखान न करै कारण वह स्वयंही जानता है और मूर्खके सामने भी गुणोंका बखान न करै कारण मूर्ख पण्डितके वचनोंको नहीं जानता है ॥ १२७ ॥

तेन चमत्कृताः सर्वे। रामेश्वरकविः प्राह—

इस बातसे सभी चमत्कृत हुए, तब रामेश्वरकविने कहा--

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम् ॥
पुष्णाति कमलमंभो लक्ष्म्या तु रविर्वियोजयति ॥ १२८ ॥

सज्जन पुरुष विख्यात होजाताहै और सुकवि केवल कार्यको करता है, जैसे कमलको जल बढाता और सूर्य खिलाता है ॥ १२८ ॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। राजेंद्रं कविः प्राह—

इसपर प्रसन्न होकर राजाने प्रत्येक अक्षरके लाख २ रुपये दिये। तब राजासे कविने कहा—

कवित्वं न शृणोत्येव कृपणः कीर्तिवर्जितः ॥
नपुंसकः किं कुरुते पुरः स्थितमृगीदृशा ॥ १२९ ॥

कीर्त्तिहीन कृपण कविताको नहीं सुनता है जैसे सन्मुख विराजमान स्त्रीसे नपुंसक क्या करसक्ता हैं ॥ १२९ ॥

सीता प्राह—

हता देवेन कवयो वराकास्ते गजा अपि ॥
शोभा न जायते तेषां मंडलेन्द्रगृहं विना ॥ १३० ॥

सभामें स्थित सीताने कहा—दैवद्वारा हत होनेपर दीन कवि और हाथी राजभवनके विना शोभित नहीं होते ॥ १३० ॥

कालिदासः—

अदातृमानसं क्वापि न स्पृशंति कवेर्गिरः ॥
दुःखायैवातिवृद्धस्य विलासास्तरुणीकृताः ॥ १३१ ॥

(सभामें स्थित कालिदास बोले) कृपणके मनको कविकी वाणी नहीं छूती जैसे युवतीके हाव-भाव वृद्धको दुःखही देते हैं ॥ १३१ ॥

राजा प्रतिपंडितं लक्षं लक्षं दत्तवान् । ततः कदाचिद्राजा समस्तादपि कविमंडलादधिकं कालिदासमायान्तमवलोक्य परं वेश्यालोलत्वेन चेतसि खेदलवं चक्रे । तदा सीता विद्वद्वृंदवंदिता तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह—देव !

फिर राजाने प्रत्येक पण्डितोंको एक २ लाख रुपये दिये । इसके पीछे किसी समय समस्त कविमंडलको प्रवीण वेश्यागामी कालिदासको आते हुए देख राजाने अपने मनमें खेद किया । राजाके मनकी वात जानकर विद्वानोंसे वन्दित सीताने कहा—हे देव !

दोषमपि गुणवति जने दृष्ट्वा गुणरागिणो न खिद्यंते ॥
प्रीत्यैव शशिनि पतितं पश्यति लोकः कलंकमपि ॥१३२॥

गुणी मनुष्यमें दोष निहारकरभी गुणग्राही पुरुष खेदित नहीं होते, जैसे कलंकित चन्द्रमाको समस्त संसार प्रीतिभावसे देखताहै ॥ १३२ ॥

तुष्टो राजा सीतायै लक्षं ददौ । तथापि कालिदासं यथापूर्वं न मानयति यदा तदा स च कालिदासो राज्ञोऽभिप्रायं विदित्वा तुलामिषेण प्राह—

इस वचनसे प्रसन्न होकर राजाने सीताको लाख रुपये दिये । इतने परभी जब राजाने पूर्वकी समान कालिदासको नहीं माना तब कालिदासने राजाके मनका भाव जानकर तराजूके मिससे कहा—

प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामास्ते तुलेऽवलेपस्ते ॥
नयसि गरिष्ठमधस्तात्तदितरमुच्चैस्तरां कुरुषे ॥ १३३ ॥

हे तराजू ! तू भारीको नीचा और हल्केको ऊँचा करके भी अपनेको प्रमाणको प्राप्त कर क्यों गर्व करती है ॥ १३३ ॥

पुनराह—

फिर कहा—

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात् ।
स्वदेशरागेण हि याति खेदम् ॥
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः ।
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबंति ॥ १३४ ॥

जिसकी सब स्थानोंमें गति है वह क्यों अपने देशके स्नेहसे खेदित होता है । वह हमारे पिताका बनाया कुँआ है ऐसा कहकर मूर्ख खारी जलको पीते हैं ॥ १३४ ॥

ततो राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि विदित्वा कालिदासो दुर्मनाः निजवेश्म ययौ ॥

अनन्तर राजाके द्वारा अपमान विचार कर कालिदास उदास होकर अपने घर चला गया ।

अवज्ञास्फुटितं प्रेम समीकर्तुं क ईश्वरः ॥
संधिं न याति स्फुटितं लाक्षालेपेन मौक्तिकम् ॥ १३५ ॥

अवज्ञासे फटेहुए प्रेमको मिलानेके लिये कौन समर्थ है जैसे फूटी मोती लाखके द्वारा नहीं जुडती है ॥ १३५ ॥

ततो राजापि खिन्नः स्थितः । ततो लीलावती खिन्नं दृष्ट्वा राजानं विषादकारणमपृच्छत् । राजा च रहसि सर्वं तस्यै प्राह । सा च राजमुखेन कालिदासावज्ञां ज्ञात्वा पुनः प्राह—देव प्राणनाथ ! सर्वज्ञोऽसि ॥

फिर राजाका भी मन खिन्न हुआ, तब लीलावतीने राजाको अनमना देख विषादके कारणको पूंछा । राजाने इकलेमें सब वृत्तान्त कह दिया उसने राजाके मुखसे कालिदासकी अवज्ञाको सुन फिर कहा—हे देव प्राणनाथ ! तुम सर्वज्ञ हो ।

स्नेहो हि वरमघटितो न वरं संजातविघटितस्नेहः ॥
हृतनयनो हि विषादी न विषादी भवति स खलु जात्यंधः ॥ १३६ ॥

स्नेहका न करना अच्छा परन्तु करके तोडना ठीक नहीं, जैसे नेत्रोंके नष्ट हो जानेपर मनुष्यको दुःख होता है और जन्मान्धको दुःख नहीं होता है ॥ १३६ ॥

परंतु कालिदासः कोऽपि भारत्याः पुरुषावतारः । तत्सर्वभावेन संमानयैनं विद्वद्भ्यः । पश्य—

परन्तु कालिदास कोई सरस्वतीका पुरुषरूपी अवतार है । अतएव उसको सब भांतिसे विद्वानोंके द्वारा मान कराओ । देखो--

दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि कलंकितोऽपि ।
मित्रावसानसमये विहितोदयोऽपि ॥
चंद्रस्तथापि हरवल्लभतामुपैति ।
नैवाश्रितेषु गुणदोषविचारणा स्यात् ॥ १३७ ॥

दोषोंकी खान, कुटिल, कलंकी, मित्र (सूर्य)के अस्तमें उदय होनेवाला चंद्रमा भी शिवजीको प्रिय है, इसी कारण आश्रित जनके गुणदोषोंका विचार नहीं किया जाता करते है ॥ १३७ ॥

राजा—प्रिये ! सर्वमेतत्सत्यमेवेत्यंगीकृत्य श्वः कालिदासं प्रातरेव संतोषयिष्यामीत्यवोचत् । अन्येद्यू राजा दंतधावनादिविधिं विधाय निर्वर्तितनित्यकृत्यः सभां प्राप पंडिताः कवयश्च गायका अन्ये प्रकृतयश्च सर्वे समाजग्मुः । कालिदासमेकमनागतं

वीक्ष्य राजा स्वसेवकमेकं तदाकारणाय वेश्यागृहं प्रेषयामास। स च गत्वा कालिदासं नत्वा प्राह। कवींद्र ! त्वामाकारयति भोजनरेंद्र इति। ततः कविर्व्यचिंतयत्। गतेऽह्नि नृपेणावमानितोऽहमद्य प्रातरेवाकारणे किं कारणमिति—

राजाने कहा—हे प्रिये ! सत्य है, अच्छा कल प्रातःकालही मैं कालिदासको प्रसन्न करूंगा। दूसरे दिन राजा दतौन आदि शुद्धिक्रियाको कर नित्यकर्मोंको पूर्ण कर सभामें आया। पण्डित, कवि, गायक और समस्त सभासद सभामें पधारे, केवल कालिदासको सभामें नहीं आया हुआ देखकर राजाने अपने एक सेवकको उन्हें बुलानेके लिये वेश्याके घरपर भेजा। सेवकने जाकर कालिदाससे प्रणाम करके कहा, हे कविकुलमुकुटमणि ! राजा भोजने आपको बुलायाहै। तब कविको बडी चिन्ता हुई, कि कलही राजाने मेरा अपमान कियाथा अब प्रातःकालही क्यों बुलाता है ?

यं यं नृपोऽनुरागेण संमानयति संसदि॥
तस्य तस्योत्सारणाय यतंते राजवल्लभाः॥ १३८॥

राजा जिस २ मनुष्यसे सभामें प्रेम करताहै, राजप्रिय जन उसी उसके उखाडनेका यत्न करते हैं॥ १३८॥

किंतु विशेषतो राज्ञा अन्वहं मान्यमाने मयि मायाविनो मत्सराद्वैरं बोधयंति॥

किन्तु प्रतिदिन राजाके द्वारा मेरा मान होनेपर मायावी पुरुष ईर्षासे वैर कराते हैं।

अविवेकमतिर्नृपतिर्मंत्रिषु गुणवत्सु यंत्रितग्रीवः॥
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः॥ १३९॥

अज्ञानी राजा गुणी मंत्रियोंके वशीभूत रहता है, और जहाँ दुष्टोंकी प्रबलता होती है वहाँ सज्जनोंको अवकाश कैसे होसक्ता है॥ १३९॥

इति विचारयन् सभामागच्छत् । ततो दूरे समायांतं वीक्ष्य सानंदमासनादुत्थाय सुकवे मत्प्रियतमाद्य कथं विलंबः क्रियत इति भाषमाणः पंच षट् पदानि संमुखो गच्छति । ततो निखिलापि सभा स्वासनादुत्थिता सर्वे सभासदश्च चमत्कृताः । वैरिणश्चास्य विच्छायवदना बभूवुः । ततो राजा निजकरकमलेन अस्य करकमलमवलंब्य स्वासनदेशं प्राप्य तं च सिंहासने उपवेश्य स्वयं च तदाज्ञया तत्रैवोपविष्टः । ततो राजसिंहासनारूढे कालिदासे बाणकविर्दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य प्राह-

यह विचार सभामें आया । तब कालिदासको दूरहीसे आते देख हर्षके साथ राजाने खडे होकर कहा--हे सुकवे ! हे मम प्रिय ! आपने क्यों विलम्ब किया ऐसा कह पाँच छः पग अगमानीके लिये चला, तो समस्त सभासद पुरुष अपने २ आसनोंपर खडे होगये । इधर कालिदासके शत्रुओंका मुख मलीन होगया । तब राजाने निज करकमलसे कालिदासके करकमलको गहकर अपने आसनके स्थानपर जाय कविराजको सिंहासनपर बिठाया और उनकी आज्ञासे आपभी वहीं बैठगया । जब कालिदास राजसिंहासनपर विराजे तब बाण कविने अपनी दहनी भुजा उठाकर कहा-

भोजः कलाविद्रुद्रो वा कालिदासस्य माननात् ॥
विबुधेषु कृतो राजा येन दोषाकरोऽप्यसौ ॥ १४० ॥

भोजको कलाओंका ज्ञाता कहें वा रुद्र कहें, क्योंकि जितने दोषाकर (दोषोंकी खान) कालिदासको पण्डितोंमें राजा करादिया, रुद्रपक्षमें दोषोंकी खान विद्वानोंका राजा चन्द्रमाको शिवजीने अपने भालमें स्थान दिया ॥ १४० ॥

ततोऽस्य विशेषेण विद्वद्भिः सह वैरानलः प्रदीप्तः । ततः कैश्चिद्बुद्धिमद्भिः मंत्रयित्वा सर्वैरपि विद्वद्भिः भोजस्य तांबूलवाहिनी दासी धनकनकादिना संमानिता । ते च तां प्रत्यु-

पायमूचुः । सुभगे ! अस्मत्कीर्तिमसौ कालिदासो गलयति अस्मासु कोऽपि नैतेन कलासाम्यं भवहते। वत्से ! यथैनं राजा देशांतरं निःसारयति तद्भवत्या कर्तव्यमिति । दासी प्राह । भवद्भ्यो हारं प्राप्य मया युष्मत्कार्यं क्रियते तन्मम प्रथमं हारो दातव्य इति । ततः सा तांबूलवाहिनी तैर्दत्तं हारमादाय व्यचिंतयत् । तथाहि—बुधैरसाध्यं किं वास्ति । ततः समतिक्रामत्सु कतिपयवासरेषु दैवादेकाकिनि प्रसुप्ते राजनि चरणसंवाहनादिसेवामस्य विधाय तत्रैव कपटेन नेत्रे निमील्य सुप्ता । ततश्चरणचलनेन राजानमीषज्जागरूकं सम्यग्ज्ञात्वा प्राह । सखि मदनमालिनि ! स दुरात्मा कालिदासः दासीवेषेण अंतःपुरं प्राप्य लीलादेव्या सह रमते । राजा तच्छ्रुत्वा उत्थाय प्राह । तरंगवति ! किं जागर्षीति । सा च निद्राव्याकुलेव न शृणोति । राजा च तस्या अपध्वनिं श्रुत्वा व्यचिंतयत् । इयं तरंगवती निद्रायां स्वमवशं गता वासनावशाद्देव्या दुश्चरितं प्राह । स च स्त्रीवेषेणांतःपुरमागच्छतीत्येतदपि संभाव्यते । को नाम स्त्रीचरितं वेदेति । ततश्चेत्थं विचार्य राजा परेद्युः प्रातरात्मनि कृत्रिमज्वरं विधाय शयानः कालिदासं दासीमुखेन आनाय्य तदागमनानंतरं तथैव लीलादेवीं चानाय्य देवीं प्रत्यवदत् । प्रिये ! इदानीमेव मया पथ्यं भोक्तव्यमिति । इत्युक्ते सापि तथैवेति पथ्यं गृहीत्वा राज्ञे रजतपात्रे दत्त्वा तत्र मुद्गदालीं प्रत्यवेषयत् । ततो राजापि तयोरभिप्रायं जिज्ञासमानः श्लोकार्धं प्राह—

इसके उपरान्त विद्वानोंके साथ वैरकी आग प्रगट हुई । फिर कुछ विद्वानोंकी सलाहसे सभी विद्वानोंने भोजको पानकी बीडी देनेवाली दासीको

सुवर्ण आदि दिया । और उस दासीको उन्होंने उपाय बताया । हे सुभगे ! हमारी कीर्त्तिको कालिदास खंडित किये देता है, हमारे विषे कोईभी कालिदासकी समान कलावान् नहीं है । हे वत्से (बेटी)! जिससे राजा कालिदासको देशसे निकाल दे तुम उसी कामको करो । दासीने कहा, तुमसे हार (मोतियोंकी माला) लेकर मैं इस कार्यको करूंगी, अतएव पहले तुम मुझे हार दो । फिर उस पानकी बीडी देनेवाली दासीने उनसे हार लेकर विचारा, कि बुद्धिमान् क्या नहीं करसक्ते हैं । कुछ कालके उपरान्त जब राजा अकेला सोरहाथा तब यह दासी राजाके पैर दाब सेवा करके वहीं कपटसे नेत्र मींचकर सोगई । चरण फैलानेसे राजाको कुछ जागताहुआ जानकर बोली–हे सखी मदनमालिनि ! वह दुष्ट कालिदास दासीके वेषसे अन्तःपुरमें जाकर लीलादेवी (रानी) के साथ रमण करता है । राजाने इस बातको सुन बैठकर कहा हे तरङ्गवति ! क्या जागती हो ? तब वह निद्रामें व्याकुलकी समान नहीं सुनती है, राजाने उसकी बुरी वाणीका शब्द सुनकर विचारा । यह तरङ्गवती नींदके वशीभूत है, वासनासे रानीके दुश्चरित्रोंको कहती है, वह स्त्रीवेषसे अन्तःपुरमें आता है, यह सम्भव होसक्ता है । स्त्रियोंके चरित्र नहीं जानेजाते । यह विचारकर दूसरे दिन राजा अपने शरीरमें छलसे ज्वर बताकर सोगया । फिर कालिदास कविको दासीके द्वारा बुलाया और उसी दासीसे लीलादेवीको बुलाकर कहा–हे प्रिये ! अभी मुझे पथ्य लेना चाहिये, तब रानीने राजाकी आज्ञानुसार पथ्यस्वरूप चाँदीके पात्रमें राजाके लिये मूँगकी दाल परोसी । तब राजाने उनका अभिप्राय जाननेकी लालसासे आधा श्लोक पढा–

मुद्गदाली गदव्याली कवींद्र वितुषा कथम् ॥

हे कविराज ! रोगकी नाशक सर्पिणीरूपी मूँगकी दाल छिलकोंसे रहित कैसे हुई ?

इति । ततः कालिदासः देव्यां समीपवर्तिन्यामपि उत्तरार्धं प्राह–

तब कालिदासने रानीके समीप होनेपर भी आधा श्लोक पढा–

अंधोवल्लभसंयोगे जाता विगतकंचुकी ॥ १४१ ॥

भोजनरूपी पतिके संयोगमें इस (दालरूपी) स्त्रीने अपनी कंचुकी खोलदी ॥ १४१ ॥

देवी तच्छ्रुत्वा परिज्ञातार्थस्वरूपा सरस्वतीव तदर्थं विदित्वा स्मेरमुखी मनागिव प्रबभूव । राजाऽप्येतदृष्ट्वा विचारयामास । इयं पुरा कालिदासे स्निह्यति अनेन एतस्यां समीपवर्तिन्यामपि इत्थमभ्यधायि इयं च स्मेरमुखी बभूव । स्त्रीणां चरित्रं को वेद ॥

फिर रानी इस पदको सुन अर्थको जाननेवाले सरस्वतीकी समान उसके अर्थको जानकर मुसकराई । राजाने भी यह देख विचारा, यह पहलेसेही कालिदाससे स्नेह करती है, इसी कारण कविने इसके समपि रहनेपरभी ऐसा कहा और यहभी कुछ मुसकराई । स्त्रियोंके चरित्रको कौन जानता है ।

अश्वप्लुतं वासवगर्जितं च स्त्रीणां च चित्तं पुरुषस्य भाग्यम् । अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥ १४२ ॥

घोडेका कूदना, इन्द्रका गर्जना, स्त्रिकोंका चित्त, पुरुषोंका भाग्य, वर्षा न होना और अतिवर्षाके होनेको देवताभी नहीं जानसक्ते तो मनुष्यकी क्या सामर्थ्य है जो जानसके ॥ १४२

किं त्वयं ब्राह्मणः दारुणापराधित्वेन हंतव्य इति । विशेषेण सरस्वत्याः पुरुषावतार इति विचार्य कालिदासं प्राह । कवे ! सर्वथा अस्मद्देशे न स्थातव्यं किं बहुनोक्तेन । प्रतिवाक्यं किमपि न वक्तव्यम् । ततः कालिदासोऽपि वेगेनोत्थाय वेश्यागृहमेत्य तां प्रत्याह । प्रिये ! अनुज्ञां देहि मयि भोजः कुपितः स्वदेशे न स्थातव्यमित्युवाच । अहह—

किन्तु दारुण अपराधी होनेसे यह ब्राह्मण मारनेकी योग्य है । विशेषकर यह सरस्वतीका अवतार है (रानीके) इस बातको विचार कालिदाससे कहा—हे कवे ! अधिक क्या कहूँ, तुम हमारे देशसे निकलजाओ और मुझे उत्तर न दो । तब कालिदास तुरन्त खडा होकर चलदिया और वेश्याके घरमें आकर कहा—प्रिये ! विदा दो, मुझपर कुपित होकर राजाने देशसे निकलजानेको कहा है । अहह !

अघटितघटितानि घटयति घटितघटितानि दुर्घटीकुरुते ॥
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिंतयति ॥ १४३ ॥

विधाता अनहोनी बात करदेता है और होनेवाली बात नष्ट कर देताहै । जिनका कभी पुरुष विचारभी नहीं करता उनको करदेता है ॥ १४३ ॥

किं च किमपि विद्वद्वृंदचेष्टितमेवेति प्रतिभाति । तथाहि—

किन्तु कुछ विद्वानोंका ही यह समस्त चेष्टित दीखता है, ऐसा कहाभी है—

बहूनामल्पसाराणां समवायो दुरत्ययः ॥
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यंते तेन दंतिनः ॥ १४४ ॥

अल्पसारवालोंका एकत्र होनाही दृढ हो जाताहै जैसे तिनकोंकी बनी हुई रस्सीसे हाथी बाँधे जाते हैं ॥ १४४ ॥

ततो विलासवती नाम वेश्या तं प्राह—

फिर विलासवती नामवाली वेश्याने कविसे कहा—

तदेवास्य परं मित्रं यत्र संक्रामति द्वयम् ॥
दृष्टे सुखं च दुःखं च प्रतिच्छायेव दर्पणे ॥ १४५ ॥

इस प्राणीका वही परम मित्र है जिसके दर्शनसे सुख, दुःख दोनों दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान दीखते हैं ॥ १४५ ॥

दयित ! मयि विद्यमानायां किं ते राज्ञा किं वा राजदत्तेन वित्तेन कार्यम् । सुखेन निःशंकं तिष्ठ मद्गृहांतःकुहर इति । ततः

कालिदासः तत्रैव वसन् कतिपयदिनानि गमयामास। ततः कालिदासे गृहान्निर्गते राजानं लीलादेवी प्राह। देव कालिदासकविना साकं नितांतं निबिडतमा मैत्री तदिदानीमनुचितं कस्मात्कृतं यस्य देशेऽप्यवस्थानं निषिद्धम् ॥

हे प्रिय ! जबतक मैं जीवतीहूँ तबतक राजासे तुम्हें क्या काम है ? और राजाके धनसे तुम्हें क्या काम है ? सुखके साथ मेरे घरके तहखानेमें निःशंक होकर रहो, फिर कालिदासने कुछ दिन वहीं रहकर बिताये। इसके पीछे कालिदास घरसे निकलगये, तब लीलावती देवीने कहा—हे देव ! कालिदासके साथ आपकी परम मित्रता थी सो अब क्यों जातीरही जो कालिदासको देशसे भी निकाल दिया।

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ॥
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां च विपरीता ॥ १४६ ॥

जैसे गन्नेके आगेसे क्रमानुसार पोरी २ में अधिक मिठास होती है, वैसेही सज्जनोंकी मित्रता दिनपरदिन अधिक होती जाती है और दुष्टोंकी मित्रता उलटी होतीहै अर्थात् प्रतिदिन घटती जाती है ॥ १४६ ॥

शोकारातिपरित्राणं प्रीतिविस्रंभभाजनम् ॥
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १४७ ॥

शोकरूपी शत्रुसे रक्षक, प्रीति और विश्वासका पात्र "मित्र" नामक दो अक्षरके रत्नको किसने रचा है ॥ १४७ ॥

राजाप्येतल्लीलादेवीवचनमाकर्ण्य प्राह—देवि ! केनापि ममेत्यभिधायि। तत्कालिदासो दासीवेषेण अंतःपुरमासाद्य देव्या सह रमत इति। मया चैतद्व्यापारजिज्ञासया कपटज्वरेणायं भवती च वीक्षितौ। ततः समीपवर्तिन्यामपि त्वय्युत्तरार्द्धमित्थं प्राह। तच्चाकर्ण्य त्वयापि कृतो हासः। ततश्च सर्वमेतद्दृष्ट्वा ब्राह्मणहन-

नभीरुणा मया देशान्निःसारितः । त्वां च न दाक्षिण्येन हन्मीति । ततः हासपरा देवी चमत्कृता प्राह । निःशंकं देव ! अहमेव धन्या यस्यास्त्वं पतिरीदृशः । यत्त्वया भुक्तशीलाया मम मनः कथमन्यत्र गच्छति यतः सर्वकामिनीभिरपि कांतोपभोगे स्मर्त्तव्योऽसि । अहह देव ! त्वं यदि मां सतीमसतीं वा अकृत्वा गमिष्यसि तर्ह्यहं सर्वथा मरिष्य इति । ततो राजापि प्रिये ! सत्यं वदसीति । ततः स नृपतिः पुरुषैरहिमानयामास तप्तं लोहगोलकं कारयामास धनुश्च सज्जं चक्रे । ततो देवी स्नाता निजपातिव्रत्यानलेन देदीप्यमाना सुकुमारगात्री सूर्यमवलोक्य प्राह । जगच्चक्षुस्त्वं सर्वसाक्षी सर्वं वेत्सि—

राजाने लीलादेवीके वचनोंको सुनकर कहा हे देवि ! किसीने मेरे सामने कहा कि दासीके वेपसे कालिदास अन्तःपुरमें आकर रानीके साथ रमण करता है । मैंने इसकी सत्यताके लिये ज्वरके छलसे तुम्हें और कालिदासको देखलिया । फिर तुम्हारे समीप रहनेपरभी इस प्रकार श्लोकके उत्तरार्द्धको पढा और उस पदको सुनकर तुमभी हँसी । तब इन सब बातोंको देख ब्राह्मणवधका भय जानकर उस कविको मैंने देशसे निकाल दिया । तुम चतुरा और बुद्धिमती हो इसीसे तुम्हें नहीं मारताहूँ । फिर रानीने हँसीके साथ चौंककर कहा—हे देव ! मैं निःशंक हुई धन्य हूँ जिसके तुम पति हो । तुम मेरे स्वभावको भली भाँतिसे जानते हो तुम्हारी भोगी हुईका मेरा मन अन्य स्थानमें क्यों जायगा कारण हे कान्त ! तुम सभी स्त्रियोंके उपभोगसमयमें स्मरण होते हो, अहा ! बडे खेदकी बात है, कि तुम मुझे सती अथवा असती विना बनाये जाओगे तो मैं निश्चय प्राण त्याग दूंगी । तब राजाने कहा—प्यारी ! सत्य कहती हो, फिर राजाने पुरुषोंसे सर्प मंगाया लोहेके गोलेको तपाया और धनुषपर बाण चढाया । तब उस सुकुमारी

रानीने स्नान करके अपने पातिव्रतधर्मरूपी अग्निसे दीप्त हो सूर्य्यका दर्शन करके कहा—हे जगत्के चक्षु! तुम सभीके साक्षी हो और सब कुछ जानते हो।

जाग्रति स्वप्नकाले च सुषुप्तौ यदि मे पतिः॥
भोज एव परं नान्यो मच्चित्ते भावितोऽपि न॥ १४८॥

जागते, सोते और स्वप्नके समय मेरे चित्तमें अपने प्राणपति भोजके सिवाय दूसरा नहीं आताहै इसको सत्य करके दिखाओ॥ १४८॥

इत्युक्त्वा ततो दिव्यत्रयं चक्रे। ततः शुद्धायामन्तःपुरे लीलावत्यां लज्जानतशिराः नृपतिः पश्चात्तापात्पुरो देवि! क्षमस्व पापिष्ठं मां किं वदामीति कथयामास। राजा च तदाप्रभृति न निद्राति न च भुंक्ते न केनचिद्वक्ति। केवलमुद्विग्नमनाः स्थित्वा दिवानिशं प्रविलपति। किं नाम मम लज्जा किं नाम दाक्षिण्यं क्व गांभीर्यं हाहा कवे कविकोटिमुकुटमणे कालिदास हा! मम प्राणसम! हा मूर्खेण किमश्राव्यं श्रावितोऽसि अवाच्यमुक्तोऽसीति प्रसुप्त इव ग्रहग्रस्त इव मायाविध्वस्त इव पपात। ततः प्रियाकरकमलसिक्तजलसंजातसंज्ञः कथमपि तामेव प्रियां वीक्ष्य स्वात्मनिंदापरः परमतिष्ठत्। ततो निशा निशानाथहीनेव दिनकरहीनेव दिनश्रीर्वियोगिनीव योषित् शक्ररहितेव सुधर्मा न भाति भोजभूपालसभा रहिता कालिदासेन। तदाप्रभृति न कस्यचिन्मुखे काव्यं न कोऽपि विनोदसुंदरं वचो वक्ति। ततो गतेषु केषुचिद्दिनेषु कदाचिद्राकापूर्णेंदुमंडलं पश्यन् पुरश्च लीलादेवीमुखेंदुं वीक्ष्य प्राह—

इस भाँतिसे कहकर दिव्यत्रय किया, अर्थात्—सर्पसे नहीं डसी, अग्निसे नहीं जली और बाणद्वाराभी नहीं विंधी। अन्तःपुरमेंही लीलावती शुद्ध होचुकी तब तो लाजसे नीचे मुख किये राजाने पछताकर पहले कहा, कि—

हे देवि ! मुझ पापीको क्षमा करो अधिक क्या कहूँ ? तबसे राजाको न नींद आती है और न भूख लगती है । राजा किसीसे कुछ नहीं कहता है । केवल उदासीन होकर रात दिन विलाप करता है, अब मेरी लज्जा, चतुराई और गौरवता कहाँ है ? हा ! हा ! ! हे कवे ! हे कविकुलमुकुटमणि ! हे कालिदास ! हे मम प्राणतुल्य ! हा ! ! मुझ मूर्खने क्या सुनाने योग्य तुमको नहीं सुनाया और क्या कहनेयोग्य तुमसे नहीं कहा, इस भाँति निद्राभिभूत ग्रहोंसे ग्रसे हुएकी समान छलसे विध्वस्त होनेकी समान गिरगया । तब रानीके करकमलद्वारा जल छिडकनेसे चैतन्यता हुई, फिर रानीको निहार मौन होकर बैठगया । पीछे चन्द्रहीन रात्रिकी समान, सूर्यहीन दिनकी समान, वियोगिनी स्त्रीकी समान और इन्द्ररहित सुधर्मा सभाकी समान राजा भोजकी सभा कालिदाससे हीन होनेसे श्रीहीन होगई । फिर तबसे किसीके मुखसे काव्यकी रचना नहीं सुनपडी, कोई विनोदके वचन नहीं कहता है । इस भाँति कुछ कालके उपरान्त पूर्णिमाकी रात्रिमें पूर्णचन्द्रमाको देखकर राजा लीलादेवीके मुखचन्द्रको निहार कहने लगा-

तुलनं अणु अणुसरइ ग्लौ सो मुहचंदस्स खु एदाये ॥

कि यह चन्द्रमा इस रानीके मुखचन्द्रकी बराबरी करता है ।

कुत्र च पूर्णेऽपि चंद्रमसि नेत्रविलासाः कदा वाचो विलसितम् । प्रातश्चोत्थितः प्रातर्विधीन्विधाय सभां प्राप्य राजा विद्वद्वरान्प्राह । अहो कवयः इयं समस्या पूर्यताम् । ततः पठति । 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौ सो मुहचंदस्स खु एदाये ।'[1] पुनराह । इयं चेत्समस्या न पूर्यते भवद्भिः मद्देशे न स्थातव्यमिति । ततो भीतास्ते कवयः स्वानि गृहाणि जग्मुः । चिरं विचारितेऽप्यर्थः कस्यापि नार्थसंगतिः स्फुरति । ततः सर्वैर्मिलित्वा बाणः प्रेषितः ततः सभां प्राप्याह राजानम् । देव ! सर्वैर्विद्वद्भिरहं प्रेषितः । अष्ट-

१ च्छाया-तुलनामन्वनुसरति ग्लौः स मुखचंद्रस्य खल्वेतस्याः ।

वासरानवधिममिधेहि । नवमेऽह्नि पूरयिष्यंति ते । न चेद्देशान्निर्गच्छंति ते । राजा अस्त्वित्याह । ततो बाणः तेषां विज्ञाप्य राजसंदेशं स्वगृहमगात् । ततोऽष्टौ दिवसाः अतीताः । अष्टमदिनरात्रौ मिलितेषु बाणः प्राह । अहो तारुण्यमदेन राजसन्मानमदेन किंचिद्विद्यामदेन कालिदासो निःसारितोऽभवत् । समे भवंतः सर्व एव कवयः । विषमे स्थाने तु स एक एव कविः । तं निःसार्य इदानीं किं नाम महत्वमासीत् । स्थिते तस्मिन् कथमियमवस्थास्माकं भवेत् । तन्निःसारे या या बुद्धिः कृता सा भवद्भिरेव अनुभूयते ॥

ऐसे कभी पूर्ण चन्द्रमामें नेत्रोंका विलास हुआ और फिर कभी वाणीका विलास हुआ । (यह कविता रची) फिर प्रातःकाल राजा उठा और प्रातःकालका नित्य कर्म समाप्त कर सभामें आय ब्राह्मणोंसे कहा—हे कविगण ! इस समस्याको पूर्ण करो राजा पढताहै—" तुलगं अणु अणु सरइ गलीं सो मुहचन्दस्स खु एदाये " पढकर कहा यदि इस समस्याको तुम पूरा न करसको तो मेरे देशसे निकल जाओ । तब तो मारे डरके वह कवि अपने घरको चलेगये । चिरकालतक अर्थ विचारनेपरभी किसीको अर्थकी सङ्गति नहीं फुरी । तब सबने मिलकर बाणकविको भेजा । बाणने सभामें आकर राजासे कहा हे देव ! सबने मिलकर मुझे भेजा है, आप आठ दिनकी अवधि दीजिये । नवमें दिन समस्यापूर्ति करेंगे, नहीं तो आपके देशसे निकलजायँगे । राजाने यह बात मान ली । फिर बाणकवि राजाके संदेशको सब कवियोंको सुनाकर अपने घर आया । जब आठ दिन बीतगये । आठवें दिनकी रात्रिमें सब एकत्रित हुए तब बाणने कहा—अहो ! तरुणाईके मदसे, राजसन्मानके मदसे और कुछ विद्याके मदसे कालिदासको निकाल दिया । साधारण स्थानमें तुम सभी कवि हो और विषम स्थानमें तो वह एकही कवि है । उसको निकालकर अब क्या गौरव पाया । उसके होते हमारी यह दशा क्यों होती ? उसके निकालनेमें जो २ बुद्धियें की थीं उन्हींका स्वाद मिलाहै ।

सामान्यविप्रद्वेषे च कुलनाशो भवेत्किल ॥
उमारूपस्य विद्वेषो नाशः कविकुलस्य हि ॥ १४९ ॥

सामान्य ब्राह्मणके साथ द्वेष करनेसे निश्चय कुल नष्ट होजाताहै । पार्वतीजीके रूपके द्वेष करनेसे कवियोंका कुल अवश्य नष्ट होजाताहै ॥ १४९ ॥

ततः सर्वे गाढं कलहायंते स्म । मयूरादयश्च ततस्ते सर्वान् कलहान्निवार्य सद्यः प्राहुः । अद्यैवावधिः पूर्णः कालिदासमंतरेण न कस्यचित्सामर्थ्यमस्ति समस्यापूरणे ॥

तिसके पीछे सब कवि बडा कलह करनेलगे । फिर मयूर आदिसे लेकर समस्त कवि सबको कलहसे रोककर बोले कि, आज अवधि पूरी होगई । कालिदासके विना समस्यापूर्त्ति कोई नहीं करसक्ताहै ।

संग्रामेषु भटेंद्राणां कवीनां कविमंडले ॥
दीप्तिर्वा दीप्तिहानिर्वा मुहूर्त्तेनैव जायते ॥ १५० ॥

समरभूमिमें योद्धाओंकी और कविमंडलमें कवियोंकी हार जीत मुहूर्त्तभरमेंही दीखजातीहै ॥ १५० ॥

यदि रोचते ततोऽद्यैव मध्यरात्रे प्रमुदितचंद्रमसि निगूढमेव गच्छामः संपत्तिसंभारमादाय । यदि न गम्यते श्वो राजसेवका अस्मान्बलान्निःसारयंति तदा देहमात्रेणैवास्माभिर्गंतव्यम् । तदाद्य मध्यरात्रे गमिष्याम इति सर्वे निश्चित्य गृहमागत्य बलीवर्दव्यूढेषु शकटेषु संपद्भारमारोप्य रात्रावेव निष्क्रांताः । ततः कालिदासः तत्रैव रात्रौ विलासवतीसदनोद्याने वसन् पथि गच्छतां तेषां गिरं श्रुत्वा वेश्याचेटीं प्रेषितवान् । प्रिये ! पश्य क एते गच्छंति ब्राह्मणा इव । ततः सा समेत्य सर्वानपश्यत् । उपेत्य च कालिदासं प्राह–

जो तुम्हारी सम्मति हो तो आजही आधीरातके समय चन्द्रोदयमें अपने समस्त धनादिको लेकर चुपकेसे चलें और जो नहीं चलेंगे तो कलहि-

राजसेवक हमें बलके साथ निकालदेंगे तब हमें केवल शरीरको लेकरही चलना पडेगा। अतएव आजही रात्रिमें चलना चाहिये। ऐसा निश्चय कर सब अपने २ घरपर आकर बैलोंको जोत छकडोंमें अपने माल असवाबको लाद रात्रिकोही निकलचले। तब कवि कालिदासने वहीं विलासवतीके बगीचेमें छुपेहुए मार्गमें जातेहुए उन कवियोंकी वाणीको सुनकर वेश्याकी दासीको भेजा कि, हे प्रिये! देख तो सही ये कौन जातेहैं, मुझे ब्राह्मण जान पडतेहैं। पीछे दासीने वहाँ जाकर सबको देखा और लौटकर कालिदाससे कहा—

एकेन राजहंसेन या शोभा सरसोऽभवत्॥
न सा बकसहस्रेण परितस्तीरवासिना॥ १५१॥

एक राजहंससे जो सरोवरकी शोभा होती है वह चारों ओर बसनेवाले हजार बगलोंसे नहीं होसक्तीहै॥ १५१॥

सर्वे च बाणमयूरप्रमुखाः पलायंते नात्र संशय इति। कालिदासः प्रिये! वेगेन वासांसि भवनादानय यथा पलायमानान् विप्रान् रक्षामि॥

निश्चय समस्त बाण मयूरसे आदि लेकर कविगण भागे जारहेहैं। (यह सुन) कालिदासने कहा प्रिये! शीघ्र वस्त्र लाओ जिससे भागतेहुए ब्राह्मणोंकी रक्षा करूं।

किं पौरुषं रक्षति यो न वार्तान्।
किं वा धनं नार्थिजनाय यत्स्यात्॥
सा किं क्रिया या न हितानुबद्धा।
किं जीवितं साधुविरोधि यद्वै॥ १५२॥

कारण—पीडितोंकी रक्षा न की तो बल क्या है? अभ्यागतोंको न दिया तो धन क्या है? जो अपना हित न करे वह क्रिया क्या ह? और साधुओंसे विरोध रखकर जीवन क्या है अर्थात् कुछ नहीं॥ १५२॥

ततः स कालिदासश्चारवेषं विधाय खड्गमुद्वहन् क्रोशार्धमुत्तरं गत्वा तेषामभिमुखमागत्य सर्वान्निरूप्य जयेत्याशीर्वचनमुदीर्य

पप्रच्छ चारणभाषया। अहो विद्यावारिधयो भोजसभायां संप्राप्त-महत्त्वातिशयाः बृहस्पतय इव संभूय कुत्र जिगमिषवो भवंतः। कच्चित्कुशलं वो राजा च कुशली। अस्माभिः काशीदेशादागम्यते भोजदर्शनाय वित्तस्पृहया। ततः परिहासं कुर्वंतः सर्वे निष्क्रांताः। ततस्तेषु कश्चित्तद्गिरमाकर्ण्य तं च चारणं मन्यमानः कुतूहलेन विपश्चित्प्राह अहो चारण! शृणु त्वया पश्चादपि श्रोष्यत एव अतो मया अद्यैवोच्यते। राज्ञा किलैभ्यो विद्वद्भ्यः पूरणाय समस्योक्ता तत्पूरणाशक्ताः कुपिता राज्ञा देशांतरे क्वचिज्जिगमिषव एते निश्चक्रमुः। चारणः—राज्ञा का वा समस्या प्रोक्ता। ततः पठति स विपश्चित्। 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौ सो मुहचंदस्स खु एदाये ॥' चारणः—एतत्साध्येव गूढार्थमेतत्पूर्णेंदुमंडलं वीक्ष्य राज्ञापाठि। एतस्योत्तरार्द्धमिदं भवितुमर्हति ॥

इसके पीछे कालिदासने यह विचारकर गुप्त चर बनकर खड्ग ले अर्द्धकोश आगे जाय उन कवियोंके सामने आय खबर करी जय हो ऐसे आशीर्वाद दे उनसे चारणकी भाषासे पूछा कि, हे विद्यासागर! राजा भोजकी सभामें बृहस्पतिकी समान बडे गौरव पानेवालो! तुम सब मिलकर कहाँ जानेकी इच्छा करतेहो? कहिये तुम कुशलसे तो हो? और राजा भी कुशलपूर्वक हैं (यह कह फिर कालिदासने कहा) धनकी अभिलाषासे राजा भोजके लिये मैं काशीधामसे आयाहूं। तब सब हँसतेहुए चलेगये। तिस पीछे उनमेंसे किसी विद्वान्ने उसकी वाणी सुन और उसको चारण मान आश्चर्यसे कहा कि, हे चारण! सुनिये आप पीछेभी सुनेहींगे अतएव अभी कहताहूँ। सत्य तो यह है कि, राजा भोजने इन सबोंको एक समस्या पूर्त्तिके लिये दी उसकी यह पूर्त्ति न करसके अतएव राजासे क्रोध कर यह सब निकालेहुए दूसरे देशमें बसनेकी लालसासे जारहेहैं। यह सुन चारण कालिदासने कहा राजाने कौनसी समस्या

पूर्त्तिके लिये दी है तब उस विद्वान्‌ने कहा । " तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौ सो मुहचंदस्स खु एदाये । " चारणने कहा यह ठीकही है । चन्द्रमाका पूर्ण मंडल देख इस गूढ अर्थभरी समस्याको राजाने कहाहैं । सो इसकी पूर्त्ति ऐसे होनी चाहिये ॥

अणुइदि वण्णयदि कह अणुकिदि तस्स पडिपदि चंदस्स ॥

" अन्विति वर्ण्यते कथमनुकृतिस्तस्य प्रतिपदि चन्द्रस्य । "

सर्वे श्रुत्वा चमत्कृताः । ततश्चारणः सर्वान्प्रणिपत्य निर्ययौ । ततः सर्वे विचारयंति स्म अहो इयं साक्षात्सरस्वती पुरुषेण सर्वेषामस्माकं परित्राणायागता नायं भवितुमर्हति मनुष्यः । अद्यापि किमपि केनापि न ज्ञायते । ततः शीघ्रमेव गृहमासाद्य शकटेभ्यो भारमुत्तार्य प्रातः सर्वैरपि राजभवनं गंतव्यं न चेच्चारण एव निवेदयिष्यति ततो झटिति गच्छाम इति योजयित्वा तथा चक्रुः । ततो राजसभां गत्वा राजानमालोक्य स्वस्तीत्युक्त्वा विविशुः । ततो बाणः प्राह । देव सर्वज्ञेन यत्त्वया पठ्यते तदीश्वर एव वेद । केऽमी वराका उदरंभरयः द्विजाः तथाप्युच्यते—

इसको सुनकर सभी विस्मित होगये । पीछे चारण सबको प्रणाम करके चलागया । तव सबने विचारा कि, अहा ! यह पुरुषरूपसे साक्षात् सरस्वती थी सो जानपडताहै कि, हमारी रक्षा करनेहीको आई थी इसको मनुष्य नहीं मानना चाहिये । अभी तो किसीने कुछ नहीं जानाहै । फिर शीघ्रही सब घर आकर छकडोंसे असबाब उतार सम्मति करनेलगे कल प्रातःकालही सबको राजाकी सभामें चलना चाहियें । नहीं तो यह पद चारण कहजायगा । इस कारण शीघ्र चलेंगे यह सलाह करके ऐसाही किया । पीछे राजसभामें जाकर और राजाको देख ' स्वस्ति ' रूप आशीर्वाद दे विराजमान हुए । फिर बाणकविने कहा हे देव ! जो आप सर्वज्ञने कहा है उसको भगवान्‌ही जानसक्ताहै, ये तुच्छ पेटके भरनेवाले ब्राह्मण क्या जानेंगे परन्तु फिरभी कहते हैं—

तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौ सो मुहचंदस्स खु एदाये ॥
अणुइदि वंणयदि कह अणुकिदि तस्स पडिपदि चंदस्स॥१९३॥

आपकी समस्याका आशय यह है कि, इस रानीके मुखचन्द्रकी बराबरी यह चन्द्रमा करताहै (अब उत्तरार्द्ध पूर्त्ति ऐसे है) परन्तु रानीका मुखचन्द्र सोलह कलाओंसे सदैव पूर्ण रहताहै और चन्द्रकी कला प्रतिपदाको एकही रहजाती है इससे रानीके मुखचन्द्रकी बराबरी यह चन्द्रमा नहीं करसक्ता ॥ १९३ ॥

राजा यथाव्यवसितस्याभिप्रायं विदित्वा सर्वथा कालिदासो दिवसप्राप्यस्थाने निवसति । उपायैश्च सर्वं साध्यम् । ततो बाणाय रुक्माणां पंचदशलक्षाणि प्रादात् । संतोषमिषेणैव विद्वद्वृंदं स्वं स्वं सदनं प्रतिप्रेषितम् । गते च विद्वन्मंडले शनैर्द्वारपालायादिष्टं राज्ञा । यदि केचित् द्विजन्मान आयास्यंति तदा गृहमध्यमानेतव्याः । ततः सर्वमपि वित्तमादाय स्वगृहं गते बाणे केचित्पंडिता आहुः । अहो बाणेनानुचितं व्यधायि । यदसावपि अस्माभिः सह नगरान्निष्क्रांतोऽपि सर्वमेव धनं गृहीतवान् । सर्वथा भोजस्य बाणस्य रूपं ज्ञापयिष्यामः । यथा कोऽपि नान्यायं विधत्ते विद्वत्सु । ततस्ते राजानमासाद्य ददृशुः । राजा तान्प्राह एतत्स्वरूपं ज्ञातमेव भवद्भिर्यथार्थतया वाच्यम् । ततस्तैः सर्वमेव निवेदितम् । ततः राजा विचारितवान् । सर्वथा कालिदासश्चारणवेषेण मद्भयान्मदीयनगरमध्यास्ते । ततश्चांगरक्षकानादिदेश । अहो पलाय्यंतां तुरंगाः । ततः क्रीडोद्यानप्रयाणे पटहध्वनिरभवत् । अहो इदानीं राजा देवपूजा-

---

१ छाया–तुलनामन्वनुसरति ग्लौः स मुखचंद्रस्य खल्वेतस्याः । अन्विति वर्ण्यते कथमनुकृतिस्तस्य प्रतिपादि चंद्रस्य ॥

व्यग्र इति शुश्रुमः । पुनरिदानीं क्रीडोद्यानं गमिष्यतीति व्याकुलाः सर्वे भटाः संभूय पश्चाद्यांति । ततो राजा तैर्विद्वद्भिः स अश्वमारुह्य रात्रौ यत्र चारणप्रसंगः समजनि तत्प्रदेशं प्राप्तः । ततो राजा चरतां चौराणां पदज्ञाननिपुणानाहूय प्राह । अनेन वर्त्मना यः कोऽपि रात्रौ निर्गतः तस्य पदानि अद्यापि दृश्यंते तानि पश्यंत्विति । ततो राजा प्रतिपंडितं लक्षं दत्त्वा तान्प्रेषयित्वा च स्वभवनमगात् । ते च पदज्ञा राजाज्ञया सर्वतश्चरंतोऽपि तमनवेक्षमाणा विमूढा इवासन् । ततश्च लंबमाने सवितरि कामपि दासीमेकं पदत्राणं त्रुटितमादाय चर्मकारवेश्म गच्छंतीं दृष्ट्वा तुष्टा इवासन् । ततस्तत् पदत्राणं तया चर्मकारकरे न्यस्तं वीक्ष्य तैश्च तस्य करान्मिषेणादाय रेणुपूर्णे पथि मुक्त्वा तदेव पदं तस्येति ज्ञात्वा तां च दासीं क्रमेण वेश्याभवनं व्रजंतीं वीक्ष्य तस्या मंदिरं परितो वेष्टयामासुः । ततश्च तैः क्षणेन भोजश्रवणपथविषयं अभिज्ञानवार्त्ता प्रापिता । ततो राजा सपौरः सामात्यः पद्भ्यामेव विलासवतीभवनमगात् । ततस्तच्छ्रुत्वा विलासवतीं प्राह कालिदासः । प्रिये ! मत्कृते किं कष्टं ते पश्य । विलासवती प्राह सुकवे—

ऐसा सुन ठीक है कहकर राजाने विचारा कि, अवश्य एक दिनमें प्राप्त होनेवाले स्थानमें कालिदास रहताहै । उपाय करनेसे सवही सिद्ध होताहै । तिसके पीछे पन्द्रह लाख रुपये वाणकविको राजा भोजने दिये । मैं तुम सबोंसे प्रसन्न हुआ इस बहानेसे सब विद्वानोंको राजाने अपने २ घर भेजदिया । जब सब विद्वान् चलेगये तवही राजाने द्वारपालसे कहा जो कोई ब्राह्मण आवें उन्हें हमारे स्थानपर लाना । फिर समस्त धनको लेकर जब वाणकवि अपने घर चलागया तब कुछ पंडितोंने कहा अहो ! वाणकविने बडा अनुचित किया ।

कारण जब यहभी हमारे साथ नगरसे निकलाथा तो हमारे बराबरही हुआ तब वह इकलेही सब धनको क्यों लेगया। भलीभांतिसे राजा भोजके सामने बाणकविके स्वरूपको कहेंगे । जिससे फिर कोई विद्वानोंमें अन्याय न करनेपावे। फिर वह विद्वान् राजाके पास आये । राजाने उनसे कहा यह स्वरूप तो जानलिया परन्तु तुम सत्य सत्य कहो । तब उन विद्वानोंने सब समाचार कहदिया । राजाने विचारा सब भांतिसे मेरे भयसे चारणका वेष बनाये कालिदास मेरेही नगरमें विराजमान है । तब राजाने सेनापतियोंको आज्ञा दी अहो घोडोंको दौडाओ । फिर बगीचेमें चलनेके लिये नगाडा बजा राजा देवपूजन कररहे हैं पीछे बागमें जायँगे । ऐसे शब्दको सुनकर व्याकुल हो सब लोग इकट्ठे हो राजाके पीछे चलनेको तैय्यार हुए । तब राजा उन विद्वानोंके साथ घोडेपर चढकर रात्रिमें जहां चारण मिलाथा वहां पहुँचा । फिर राजाने विचरतेहुए चोरोंके पदचिह्नोंको पहचाननेवालोंके लिये बुलाया और उनसे बोला कि, इस मार्गसे रात्रिमें जो गया है उसके पदचिह्न अबभी दीखते हैं उसे पहचानो । फिर राजाने उन पंडितोंको एक २ लाख रुपये देकर घर भेजदिया और आपभी अपने स्थानको चलाआया । उन पदचिह्नोंको पह-चाननेवालोंने चारों ओर घूमकर मूर्खोंकी समान पदचिह्नोंको नहीं पहिचाना । जब थोडा दिन रहा तब टूटी जूती लिये किसी दासीको चमारके घर जातीहुई देख प्रसन्न हुए । पीछे उस टूटी जूतीको दासीने चमारके हाथमें दिया, यह देख उन खोज करनेवालोंने टूटी जूती चमारके हाथसे किसी बहानेसे लेली और रेतीली भूमिमें जहां पदचिह्न पायेथे उसमें डालकर देखा तो वह पदचिह्न इसी जूतीका पाया । और उस दासीको वेश्याके घर गया जान वेश्याके घरकी चारों ओरसे रक्षा करतेहुए । फिर उन्होंने क्षण-भरमें इस पदचिह्नके जाननेकी बात राजाको पहुँचाई । तब राजा भोज, नगरनिवासी और मंत्रियोंके साथ पैदलही विलासवती (वेश्या) के स्थान-पर आया । पीछे इस वृत्तान्तको सुन कालिदासने विलासवतीसे कहा हे प्रिये ! मेरे कारण तुझे कैसा कष्ट प्राप्त हुआ उसे देख । विलासवती बोली हे कविकुलगुरु ! सुनो-

उपस्थिते विप्लव एव पुंसां ।
समस्तभावः परमीयतेऽतः ॥
अवाति वायौ नहि तूलराशे- ।
र्गिरेश्च कश्चित्प्रतिभाति भेदः ॥ १५४ ॥

पुरुषोंको विपत्तिके समय सब भाव दृष्टि आतेहैं जैसे विना पवनके चले रुईका ढेर और पर्वत एकसा दीखताहै ॥ १५४ ॥

मित्रस्वजनबंधूनां बुद्धेर्वित्तस्य चात्मनः ॥
आपन्निकषपाषाणो जनो जानाति सारताम् ॥ १५५ ॥

मित्र, स्वजन, बंधु, बुद्धि, धन और अपने सार विपत्तिरूप कसौटी-वाला पुरुषही जानताहै ॥ १५५ ॥

अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायांति देहिनः ॥
सुखानि च तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते ॥ १५६ ॥

शरीरधारियोंको विना मांगे स्वयंही जैसे दुःख और सुख प्राप्त होजाते है सो मैं उनमें दीनताकोही विशेष समझतीहूँ ॥ १५६ ॥

सुकवे ! राज्ञा त्वयि मनाक् निराकृते वचसापि मया सहेदं दासीवृंदं प्रदीप्तवह्नौ पतिष्यति । कालिदासः प्रिये ! नैवं मंतव्यं मां दृष्ट्वा विकासीकृतास्यो भोजः पादयोः पतिष्यतीति । ततो वेश्या-गृहं प्रविश्य भोजः कालिदासं दृष्ट्वा ससंभ्रममाक्षिप्य पादयोः पतति । स राजा पठति च—

हे सुकवे ! यदि वाणीसे राजाने कुछभी तुम्हारा निरादर किया तो मैं दासीगणोंके साथ प्रज्वलित अग्निमें भस्म होजाऊंगी । कालिदासने कहा प्रिये ! यह मत समझाना मुझे देखकर राजा हँसताहुआ चरणोंपर गिरपडेगा । तिसके उपरांत वेश्याके घरमें आकर राजा भोज कालिदासको देख चकित होकर चरणोंमें गिरपडा । और कहने लगा ।

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ॥
मा भून्मनः कदाचिन्मे त्वया विरहितं कवे ॥ १५७ ॥

हे कवे ! चलते, ठहरते, जागते और सोतेहुएभी मेरा मन कभी तुमसे दूर न हो ॥ १५७ ॥

कालिदासस्तच्छ्रुत्वा व्रीडावनताननस्तिष्ठति । राजा च कालिदासमुखमुन्नमय्याह—

कालिदास इस बातको सुन नीचेको मुख करके खडे होगये । तब राजाने कालिदासके मुखको सामने करके कहा—

कालिदास कलावास दासवच्चालितो यदि ॥
राजमार्गे व्रजन्नत्र परेषां तत्र का त्रपा ॥ १५८ ॥

हे कलाओंके क्षेत्र कालिदास ! आपने राजमार्गसे चलतेहुए मुझे दासकी समान बुलालिया तो इसमें दूसरोंको क्या लाज है ॥ १५८ ॥

धन्यां विलासिनीं मन्ये कालिदासो यदेतया ॥
निबद्धः स्वगुणैरेष शकुंत इव पंजरे ॥ १५९ ॥

मैं विलासिनी वेश्याको धन्य मानताहूँ जिसने अपने गुणोंसे पींजरेमें पक्षीकी समान कालिदासको बांध रक्खाहै ॥ १५९ ॥

राजा नेत्रयोः हर्षाश्रु मार्जयति कराभ्यां कालिदासस्य । ततः तस्मातिप्रसन्नो राजा ब्राह्मणेभ्यः प्रत्येकं लक्षं ददौ । निजतुरगे च कालिदासमारोप्य सपरिवारः निजगृहं ययौ । कियत्यपि कालेऽतिक्रांते राजा कदाचित्संध्यामालोक्य प्राह—

फिर राजाने कालिदासके आनंदाश्रुको अपने करकमलोंसे पोंछा और कालिदासके पानेसे राजाने प्रसन्न होकर प्रत्येक ब्राह्मणको एक २ लाख रुपये दिये । फिर राजा भोज अपने घोडेपर कालिदासको सवार कराय दलबलके साथ अपने घर आया । थोडे दिनके उपरान्त राजाने किसी दिन संध्याको देखकर कहा—

परिपतति पयोनिधौ पतंगः।

सूर्य समुद्रमें पतित होताहै ।

ततो बाणः प्राह—सरसिरुहामुदरेषु मत्तभृंगः॥

बाणकविने कहा—जैसे बगीचेमें कमलके बीच भ्रमर पडताहै ।

ततो महेश्वरकविः—उपवनतरुकोटरे विहंगः।

महेश्वरकविने कहा—जैसे बगीचेमें वृक्षोंकी खखोहडमें पक्षी छिपता है।

ततः कालिदासः—युवतिजनेषु शनैः शनैरनंगः॥ १६० ॥

कालिदासने कहा—जैसे स्त्रियोंके शरीरमें धीरे २ कामदेव प्रवेश करताहै। यह सन्ध्यासमयका वर्णन है॥ १६० ॥

तुष्टो राजा लक्षं लक्षं ददौ। चतुर्थचरणस्य लक्षद्वयं ददौ। कदाचिद्राजा बहिरुद्यानमध्ये मार्गं प्रत्यागच्छंतं कमपि विप्रं ददर्श। तस्य करे चर्ममयं कमंडलुं वीक्ष्य तं चातिदरिद्रं ज्ञात्वा मुखश्रिया विराजमानं चावलोक्य तुरंगं तदग्रे निधायाह। विप्रः चर्मपात्रं किमर्थं पाणौ वहसीति। स च विप्रः नूनं मुखशोभया मृदूक्त्या च भोज इति विचार्याह। देव! वदान्यशिरोमणौ भोजे पृथ्वीं शासति लोहताम्राभावः समजनि तेन चर्ममयं पात्रं वहामीति। राजा भोजे शासति लोहताम्राभावे को हेतुः। तदा विप्रः पठति—

प्रसन्न होकर राजाने बाण और महेश्वरकविको एक २ लाख रुपये दिये और कालिदासको दो लाख रुपये दिये। किसी समय राजा भोज बाहर बगीचेके मार्गसे जाताथा तो सामनेसे आतेहुए किसी ब्राह्मणको देखा। उसके हाथमें चमडेका कमण्डलु देख, दीन जान, मुखपर तेजकी छटा निहार उस ब्राह्मणके सन्मुख घोडेको रोककर कहा कि, हे ब्राह्मण! चमडेका कमंडलु क्यों हाथमें रखते हो? उस ब्राह्मणने मुखकी शोभासे और मधुरभाषणसे जानलिया

कि, यह राजा भोज है तब बोला कि, हे देव ! दानियोंमें शिरोमणि राजा भोजके होनेपर लोहे और तांबेका अभाव होगया इसीसे चमडेका कमंडलु रखता हूं । राजाने पूछा, राजा भोजके होनेपर लोहे और तांबेका क्यों अभाव होगया ? तब उस ब्राह्मणने कहा-

अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम् ॥
शत्रूणां शृंखलैर्लोहं ताम्रं शासनपत्रकैः ॥ १६१ ॥

इस राजा भोजके राज्यमें दो वस्तुएँ दुर्लभ होगईं एक तो शत्रुओंकी बेडियोंकी अधिकतासे लोहा और दानके पट्टा लिखनेसे तांबा ॥ १६१ ॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । कदाचिद्द्वारपालः प्राह । धारेंद्र! दूरदेशादागतः कश्चिद्विद्वान् द्वारि तिष्ठति तत्पत्नी च तत्पुत्रः सपत्नीकः अतोऽतिपवित्रं विद्वत्कुटुंबं द्वारि तिष्ठतीति । राजा अहो गरीयसी शारदाप्रसादपद्धतिः । तस्मिन्नवसरे गजेंद्रपाल आगत्य राजानं प्रणम्य प्राह । भोजेंद्र ! सिंहलदेशाधीश्वरेण सपादशतं गजेंद्राः प्रेषिताः षोडश महामणयश्च । ततो बाणः प्राह-

पीछे प्रसन्न होकर राजाने एक २ अक्षरके एक २ लाख रुपये दिये । किसी समय द्वारपालने कहा कि, हे धारानगरीके प्रभु ! दूर देशसे आकर कोई विद्वान् द्वारपर खडा है साथमें उसकी स्त्री और पुत्रभी है अत एव परम पवित्र विद्वान्का कुटुम्ब दरवाजे खडा है । (यह सुन) राजाने कहा अहा ! सरस्वतीकी कृपा अपार है । उसी समय गजेन्द्रपालने आकर राजासे प्रणाम करके कहा-हे भोजराज ! सिंहलदेशके राजाने सवासौ १२५ हाथी भेजे हैं और सोलह महामणि भेजी हैं, तब बाणकविने कहा-

स्थितिः कवीनामिव कुंजराणां ।
स्वमंदिरे वा नृपमंदिरे वा ॥
गृहे गृहे किं मशका इवैते ।
भवंति भूपालविभूषितांगाः ॥ १६२ ॥

हे राजन् ! कवियोंकी समान हाथियोंकी स्थिति अपने मंदिरमें वा राजभवनमें शोभा पाती है। फिर राजाओंसे भूषित शरीरवाले कवि और हाथी क्यों मच्छरोंकी समान फिरते हैं ॥ १६२ ॥

ततो राजा गजावलोकनाय बहिरगात्। ततस्तद्विद्वत्कुटुंबं वीक्ष्य चोलपंडितो राज्ञः प्रियोऽहमिति गर्वं दधार। यन्मया राजभवनमध्यं गम्यते। विद्वत्कुटुंबं तु द्वारपालज्ञापितमपि बहिरास्ते। तदा राजा तच्चेतसि गर्वं विदित्वा चोलपंडितं सौधांगणान्निःसारितवान्। काशीदेशवासी कोऽपि तंडुलदेवनामा राज्ञे स्वस्तीत्युक्त्वातिष्ठत्। राजा च तं पप्रच्छ। सुमते ! कुत्र निवासः—

तिस पीछे राजा हाथियोंके देखनेको बाहर आया। तब उस सकुटुंब विद्वान्को देख चोलपण्डितने गर्वसे कहा कि, मैं राजमहलमें जानेसे राजाका प्रिय हूं। अन्य विद्वान् तो द्वारपालके बताये बाहर खडे हैं। तब राजाने चोलपण्डितके मनमें गर्व जानकर उसको महलके आंगनसे बाहर निकाल दिया। पछि कोई काशीनिवासी तण्डुलदेव नामक विद्वान् राजासे आकर ' स्वस्ति ' कहकर बैठगया तब राजाने उससे पूछा कि सुमते ! हे विद्वन् ! तुम कहां रहतेहो।

वर्त्तते यत्र सा वाणी कृपाणी रिक्तशाखिनः ॥
श्रीमन्मालवभूपाल तत्र देशे वसाम्यहम् ॥ १६३ ॥

हे श्रीमन् ! हे मालवदेशके राजा ! जहां रीते हाथवाले मनुष्यके पास वाणीही तलवारके समान रहतीहै मैं वहीं (पूर्वदेशमें) रहताहूं ॥ १६३ ॥

तुष्टो राजा तस्मै गजेंद्रसप्तकं ददौ। ततः कोऽपि विद्वानागत्य प्राह—

प्रसन्न होकर राजाने. उस विद्वान्को सात हाथी दिये। पछि किसी विद्वान्ने आकर कहा—

तपसः संपदः प्राप्यास्तत्तपोऽपि न विद्यते ॥
येन त्वं भोजकल्पद्रुदृग्गोचरमुपैष्यसि ॥ १६४ ॥

जिस तपसे संपत्ति प्राप्त होती है उसको तप नहीं कहते जिससे आप भोजरूप कल्पवृक्ष हमारे दृष्टिगोचर हो उसेही तप कहते हैं ॥ १६४ ॥

तस्मै राजा दशगजेंद्रान् ददौ । ततः कश्चिद्ब्राह्मणपुत्रो भूंभारवं कुर्वाणोऽभ्येति । ततः सर्वे संभ्रांताः कथं भूंभारवं करोषीति राज्ञा स्वदृग्गोचरमानीतः पृष्टः स प्राह—

राजाने उसको दश हाथी दिये, फिर किसी ब्राह्मणकुमारने 'भूंभा' शब्द किया (रोया) उसे सुन सभी चकित होकर बोले यह 'भूभा' शब्द क्यों करताहै, राजाने अपने पास बुलाकर पूछा तब बालकने कहा—

देव ! त्वद्दानपाथोधौ दारिद्र्यस्य निमज्जतः ॥
न कोऽपि हि करालंबं दत्ते मत्तेभदायक ॥ १६५ ॥

हे देव ! मत्त हाथियोंके दानी ! तुम्हारे दानरूपी सागरमें डूबते हुए दारिद्र्यको कोई हाथका सहारा नहीं देता है ॥ १६५ ॥

ततस्तुष्टो राजा तस्मै त्रिंशत् गजेंद्रान् प्रादात् । ततः प्रविशति पत्नीसहितः कोऽपि विलोचनो विद्वान् स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह—

फिर प्रसन्न हो राजाने उसे तीस हाथी दिये । तिसके उपरान्त सस्त्रीक किसी विलोचननामवाले विद्वान्ने 'स्वस्ति' कहकर कहा—

निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती ॥
गजेंद्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः ॥ १६६ ॥

अब पार्वतीजी राजा भोजको हाथियोंके दान करते हुए देखकर अपने पुत्र हस्तिमुखवाले गणेशजीकी बार २ रक्षा करती हैं ॥ १६६ ॥

---

१ जो प्रथम द्वारे खडा था, उसीको यहां विलोचन कहा है । अथवा प्रज्ञाचक्षु होनेसे विलोचन कहा है ।

ततो राजा सप्त गजान् तस्मै ददौ। ततो राजा विद्वत्कुटुंबं तदैव पुरतः स्थितं वीक्ष्य ब्राह्मणं प्राह–

तब राजाने उसे सात हाथी दिये। फिर राजाने विद्वान्के कुटुंबको सन्मुख विद्यमान देख ब्राह्मणसे समस्यापूर्तिको कहा–

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

महत् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि शरीरमेंही होती है सामग्रीमें नहीं होती।

वृद्धद्विजः प्राह–

वृद्ध ब्राह्मणने कहा–

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं।
वने वासः कंदादिकमशनमेवंविधगुणः॥
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत करांभोजकुहरे।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ १६७॥

घटही जन्मस्थान है, मृगही परिवारके मनुष्य हैं, भोजपत्रही वस्त्र है, वनही वासस्थान है, कंदमूल भोजन है ऐसे गुणोंसे भूषित अगस्त्यमुनिने समुद्रका आचमन कर लिया इस कारण महत् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि शरीरमेंही होती है, सामग्रीमें नहीं होती॥ १६७॥

ततो राजा बहुमूल्यानपि षोडशमणीन् तस्मै ददौ। ततस्तत्पत्नीं प्राह राजा अंब! त्वमपि पठ। देवी–

तब राजाने बहुत मूल्यवाली सोलह मणियें उसे देदीं। फिर राजा उस ब्राह्मणकी स्त्रीसे बोला कि, हे मातः! आपभी समस्याकी पूर्त्ति करिये। ब्राह्मणी बोली–

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा।
निरालंबो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि॥
रविर्यात्येवांतं प्रतिदिनमपारस्य नभसः।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ १६८॥

सूर्यके रथका पहिया तो एक, सर्पोंसे बँधे सात घोडे, आकाशमार्ग और चरणहीन सारथिके होनेपरभी प्रतिदिन सूर्य आकाशके पार हो जाता है इससे महत् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि शरीरमेंही होतीहै, सामग्रीमें नहीं होती ॥ १६८ ॥

राजा तुष्टः सप्तदश गजान् सप्त रथांश्च तस्यै ददौ। ततो विप्रपुत्रं प्राह राजा विप्रसुत ! त्वमपि पठ । विप्रसुतः–

तब राजाने प्रसन्न होकर १७ सत्रह हाथी और सात रथ उस ब्राह्मणीको दिये । पीछे राजाने ब्राह्मणकुमारसे कहा हे विप्रसुत ! तुमभी समस्याकी पूर्त्ति करो । यह सुन ब्राह्मणकुमारने कहा–

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि- ।
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ॥
पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधीद्राक्षसकुलं ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ १६९ ॥

लंकापुरीको जीतनेवाले, सागरको चरणोंसे पार करनेवाले, पुलस्त्यऋषिका पुत्र महाबली रावणके विपक्षमें, वानरोंकी सहायतासे, पैदलही रामचन्द्रजीने मनुष्यशरीरसे समस्तराक्षसोंके कुलका नाश कर दिया इससे जानपडता कि, महत्पुरुषोंकी क्रियासिद्धि शरीरमें होतीहै सामग्रीमें नहीं होती ॥ १६९ ॥

तुष्टो राजा विप्रसुताय अष्टादश गजेंद्रान् प्रादात् । ततः सुकुमारमनोज्ञनिखिलांगावयवालंकृतां शृंगाररसोपजातमूर्तिमिव चंपकलतामिव लावण्यगात्रयष्टिं विप्रस्नुषां वीक्ष्य नूनं भारत्याः कापि लीलाकृतिरियमिति चेतसि नमस्कृत्य राजा प्राह । मातस्त्वमप्याशिषं वद । विप्रस्नुषा–देव शृणु–

इसपर प्रसन्न होकर राजाने ब्राह्मणकुमारके लिये अठारह हाथी दिये । पीछे सुकुमारी सुंदरी कोमलांगी शृंगाररसकी मूर्त्तिकी समान चंपेकी बेलकी

समान शोभामयी शरीरवाली ब्राह्मणकी पुत्रवधूको देखकर राजाने कहा निश्चय सरस्वतीकी यह लीलामयी आकृति है ऐसा विचार प्रणाम करके राजाने कहा, हे मातः ! तुमभी आशीर्वाद दीजिये । तब पंडितकी पुत्रवधू बोली, हे देव ! सुनो—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां ।
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः ॥
स्वयं चैकोऽनंगः सकलभुवनं व्याकुलयति ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ १७० ॥

पुष्परूपी धनुषको धारण करनेवाला, भ्रमररूपी प्रत्यंचावाला, चञ्चल नेत्रवाली स्त्रियोंके नेत्रकोणरूपी बाणवाला, जडात्मा चन्द्रके मित्र, अंगहीन अनंगनामवाला कामदेव समस्त भुवनोंको व्याकुल करदेताहै, इससे विदित होताहै कि महत्पुरुषोंको क्रियासिद्धि शरीरमेंही होतीहै सामग्रीमें नहीं होती ॥ १७० ॥

चमत्कृतो राजा लीलादेवीभूषणानि सर्वाण्यादाय तस्यै ददौ । अनर्घ्यांश्च सुवर्णमौक्तिकवैडूर्यप्रवालांश्च प्रददौ । ततः कदाचित्सीमंतनामा कविः प्राह—

चकित होकर राजाने लीलादेवी (रानी) के सब आभूषणोंको लेकर उसको दे दिया । औरभी बेशी कीमती सुवर्ण, मोती, मणि एवं मूंगे दिये । पीछे किसी समय सीमंत नामक कविने कहा ।

पंथाः संसर दीर्घतां त्यज निजं तेजः कठोरं रवे ।
श्रीमन्विंध्यगिरे प्रसीद सदयं सद्यः समीपे भव ॥
इत्थं दूरपलायनश्रमवतीं दृष्ट्वा निजप्रेयसीं ।
श्रीमन्भोज तव द्विषः प्रतिदिनं जल्पंति मूर्च्छंति च ॥ १७१ ॥

हे मार्ग ! शीघ्र अपनी दूरीको छोडकर आजाओ, हे सूर्य ! अपने प्रचंड तेजको त्यागदो, हे श्रीमन् विन्ध्याचल ! दयाकरके प्रसन्न होकर शीघ्रही समीप होजा । इस भांति दूर भागनेसे थकीहुइ अपनी स्त्रियोंको देखकर तुम्हारे शत्रु प्रतिदिन बकते हैं और मूर्च्छित होते हैं ॥ १७१ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे कश्चित्सुवर्णकारः प्रांतेषु पद्मरागमणिमंडितं सुवर्णभाजनमादाय राज्ञः पुरो मुमोच । ततो राजा सीमंतकविं प्राह । सुकवे ! इदं भाजनं कामपि श्रियं दर्शयति । ततः कविराह-

उसी समय किसी सुनारने आकर पुष्परागमणिसे जडेहुए थालको लाकर राजाको भेट किया, तब राजाने सीमंत कविसे कहा हे कवे ! यह पात्र कैसी विचित्र शोभा देरहाहै उसको सुन कवि बोला-

धारेश त्वत्प्रतापेन पराभूतस्त्विषांपतिः ॥
सुवर्णपात्रव्याजेन देव त्वामेव सेवते ॥ १७२ ॥

हे देव ! हे धारेश ! तुम्हारे प्रतापसे सूर्यनारायण तिरस्कृत हो सुवर्णके पात्रके बहाने तुम्हारी सेवा करना चाहतेहैं ॥ १७२ ॥

ततस्तुष्टो राजा तदेव पात्रं मुक्ताफलैरापूर्य प्रादात् । कदाचिद्राजा मृगयारसेन पुरः पलायमानं वराहं दृष्ट्वा स्वयमेकाकी तदा दूरं वनांतमासादितवान् । तत्र कंचन द्विजवरमवलोक्य प्राह । द्विज ! कुत्र गंतासि । द्विजः-धारानगरम् । भोजः-किमर्थम् । द्विजः-भोजं द्रष्टुं द्रविणेच्छया । स पंडिताय दत्ते । अहमपि मूर्खं न याचे । भोजः-विप्र ! तर्हि त्वं विद्वान्कविर्वा । द्विजः-महाभाग ! कविरहम् । भोजः-तर्हि किमपि पठ । द्विजः-भोजं विना मत्पदसरणिं न कोऽपि जानाति । राजा-ममाप्यमरवाणीपरिज्ञानमस्ति राजा च मयि स्निह्यति त्वद्गुणं च श्रावयिष्यामि ।

किमपि कलाकौशलं दर्शय । विप्रः—किं वर्णयामि । राजा—कलमानेतान्वर्णय । विप्रः—

फिर प्रसन्न होकर राजाने उस सुवर्णके थालको मोतियोंसे भरकर कविके लिये दे दिया । किसी समय राजा शिकारकी इच्छासे भागते हुए सुअरको देख उसके पीछे दूरतक वनमें चला गया । वहां किसी उत्तम ब्राह्मणको देखकर कहा हे विप्र ! कहां जाते हो ? ब्राह्मण बोला धारानगरीको । राजाने कहा किसलिये, ब्राह्मणने कहा द्रव्यकी अभिलाषासे भोजका दर्शन करनेके लिये । राजा बोला—भोज तो पण्डितकोही धन देता है । ब्राह्मणने कहा मैंभी मूर्खसे नहीं मांगता हूँ । राजाने कहा हे विप्र ! तुम कवि हो वा विद्वान् । ब्राह्मणने कहा मैं कवि हूं । भोजने कहा—तव कुछ पढिये । ब्राह्मण बोला राजा भोजके सिवाय मेरे पदोंकी पंक्तिको कोई नहीं जानसकता । राजाने कहा मैं भी देववाणीको जानता हूँ और राजा भोजभी मुझपर स्नेह रखता है तुम्हारी गुणावलीको मैं राजाको सुनाऊंगा, कुछ विद्याकी चतुरता दिखाइये । ब्राह्मणने कहा क्या वर्णन करूं । राजा बोला--इन कलमोंको अर्थात् खेतमें स्थित धान्यविशेषको वर्णन करो । (तव) ब्राह्मणने कहा -

कलमाः पाकविनम्रा मूलतलाघ्राणसुरभिकह्लाराः ।
पवनाकंपितशिरसः प्रायः कुर्वंति परिमलश्लाघाम् ॥ १७२ ॥

हे राजन् ! इन चावलोंकी जडमें प्राणरहित कमलकी गंध है और सरलतासे पकजातेहैं । पवनके वेगसे हिलनेके कारण शिरको हिलाते हुए यह धान्य कमलके गंधकी प्रशंसा करते हैं ॥ १७२ ॥

राजा तस्मै सर्वाभरणान्युत्तार्य ददौ । ततः कदाचित्कुंभकारवधूः राजगृहमेत्य द्वारपालं प्राह । द्वारपाल ! राजा द्रष्टव्यः । स आह किं ते राज्ञा कार्यम् । सा चाह । न तेऽभिधास्यामि नृपाय एव कथयामि । स सभामागत्य प्राह । देव ! कुंभकारप्रिया काचिद्राज्ञो दर्शनाकांक्षिणी न वक्ति मत्पुरः कार्यं त्वत्पुरतः कथयिष्यति । राजा प्राह प्रवेशय । सा चागत्य नमस्कृत्य वक्ति—

राजाने उसके लिये सब आभूषण उतारदिये। फिर किसी समय किसी कुम्हारीने आकर राजभवनमें द्वारपालसे कहा हे द्वारपाल! मुझे राजाका दर्शन कराओ। द्वारपाल बोला, तेरा राजासे क्या काम है? कुम्हारीने उत्तर दिया तुझसे नहीं कहूंगी राजासेही कहूँगी। तब द्वारपालने सभामें जाकर कहा हे देव! कोई कुम्हारी आपके दर्शनोंकी लालसा करती है और मुझसे कार्यको नहीं कहती। हे राजन्! आपके सन्मुखही कहना चाहती है। राजाने कहा लिवालाओ। कुम्हारीने आकर प्रणाम करके कहा--

देव मृत्खननाद्दृष्टं निधानं वल्लभेन मे ॥
स पश्यन्नेव तत्रास्ते त्वां ज्ञापयितुमभ्यगाम् ॥ १७४ ॥

हे देव! मट्टी खोदते हुए मेरे स्वामीको खजाना मिला है सो वह वहीं उसे स्थित होकर देख रहा है इतनेमें मैं आपसे निवेदन करने आई हूँ ॥ १७४ ॥

राजा च चमत्कृतो निधानकलशमानयामास। तद्द्वारमुत्पाट्य यावत्पश्यति राजा तावत्तदंतर्वर्ति द्रव्यं मणिप्रभामंडलमालोक्य कुंभकारं पृच्छति। किमेतत्कुंभकार। स चाह–

राजाने चकित होकर उस धनपूर्ण कलशको मंगाया। जब राजाने उसको ऊपर उघाडकर देखा तो उसके भीतर मणियोंकी कान्तिसे युक्त द्रव्य दृष्टि आया उसे देख कुम्हारसे पूंछा हे कुम्भकार! यह क्या है? कुम्हारने कहा–

राजचंद्रं समालोक्य त्वां तु भूतलमागतम्।
रत्नश्रेणिमिषान्मन्ये नक्षत्राण्यभ्युपागमन् ॥ १७५ ॥

हे राजन्! मैं तो यह समझता हूं राजा भोजरूपी चन्द्रमाको पृथिवीपर आया हुआ देखकर यह नक्षत्रोंकी पंक्ति रत्नोंके रूपसे आकर आपको प्राप्त हुई है ॥ १७५ ॥

राजा कुंभकारमुखाच्छ्लोकं लोकोत्तरमाकर्ण्य चमत्कृतः तस्मै सर्वं ददौ। ततः कदाचिद्राजा रात्रावेकाकी सर्वतो नगरचेष्टितं पश्यन् पौरगिरमाकर्णयन् चचार। तदा क्वचिद्वैश्यगृहे

वैश्यः स्वप्रियां प्राह प्रिये ! राजा स्वल्पदानंरतोऽपि उज्जयनीनगराधिपतेर्विक्रमार्कस्य दानप्रतिष्ठां कांक्षते सा किं भोजेन प्राप्यते । कैश्चित्तंत्रपरायणैर्मयूरादिकविभिर्महिमानं प्रापितो भोजः । परंतु भोजो भोज एव । प्रिये शृणु—

राजाने कुम्हारके मुखसे उत्तम श्लोक सुनकर उसीको समस्त धन देदिया । फिर किसी समय राजा इकला रात्रिमें नगरके चारों ओर घूमता हुआ नगरवासियोंकी वाणी सुनकर विचारने लगा । उसी समय किसी बनियाने अपनी स्त्रीसे कहा हे प्रिये ! राजा भोज थोडे दान करनेसे उज्जैन नगरीके स्वामी विक्रमादित्यकी समान यशको चाहता है सो क्या भोजको मिल सक्ता है ? मयूरादि कितनेही कवियोंने तंत्रके द्वारा भोजकी महिमा प्रगट की है लेकिन भोज तो भोजही है । हे प्रिये ! सुनो—

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्तिरारोपितो यदि पदं मृगवैरिणः श्वा ॥ मत्तेभकुंभतटपाटनलंपटस्य नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥ १७६ ॥

यदि कोई कुत्तेपर सिंहकी समान बालोंको लपेट सिंहके स्थानपर कुत्तेको बांधदे तो क्या वह कुत्ता मत्त हाथीके मस्तकको फाडनेवाले सिंहकी समान शब्द कर सक्ता है ॥ १७६ ॥

राजा श्रुत्वा विचारितवान् । असौ सत्यमेव वदति । ततः पुनःपुनर्वदंतं शृणोति—

राजा यह सुनकर विचारने लगा कि, यह सत्य कहता है । फिर वारंवार कहनेको सुनता हुआ ।

आपन्न एव पात्रं देहीत्युच्चारणं न वैदुष्यम् ॥
उपपन्नमेव देयं त्यागस्ते विक्रमार्क किमु वर्ण्यः ॥ १७७ ॥

हे विक्रमादित्य ! आपके दानको क्या वर्णन करूं कारण यदि किसी दीन

विपत्तियुक्त पुरुषने आपसे पात्र मांगा तो उसमें आपको वडा दुःख होता और आप उसे पूर्ण धन दे देते जिससे उसे अधिक विपत्ति न रहे ॥ १७७ ॥

विक्रमार्के त्वया दत्तं श्रीमन् ग्रामशताष्टकम् ॥
अर्थिने द्विजपुत्राय भोजे त्वन्महिमा कुतः ॥ १७८ ॥

हे विक्रमादित्य राजन् ! आपने धनके निमित्त आये हुए ब्राह्मणकुमारके लिये १०८ ग्राम देदिये अत एव भोजमें तुम्हारी महिमा कहांसे आ सक्तीहै ॥ १७८ ॥

प्राप्नोति कुंभकारोऽपि महिमानं प्रजापतेः ॥
यदि भोजोऽप्यवाप्नोति प्रतिष्ठां तव विक्रम ॥ १७९ ॥

यदि कुम्हार मिट्टीके वर्त्तन आदिके वनानेसे ब्रह्माजीके पदको प्राप्त हो जाय तो हे विक्रमादित्य ! भोजभी आपकी पदवीको प्राप्त हो जायगा ॥ १७९ ॥

राजा लोके सर्वोऽपि जनः स्वगृहे निःशंकं सत्यं वदति । मया वा अन्येन वा सर्वथा विक्रमार्कप्रतिष्ठा न शक्या प्राप्तुम् । ततः कदाचित्कश्चित्कविः राजद्वारं समागत्याह राजा द्रष्टव्य इति । ततः प्रवेशितो राजानं स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः पठति-

राजाने कहा संसारमें सब मनुष्य अपने घर निडर होकर सत्य कहते हैं । मैं वा और कोईभी विक्रमादित्यकी प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त कर सक्ता । फिर कुछ कालके उपरान्त किसी कविने राजद्वारपर आकर कहा कि, राजाके दर्शनकी लालसा है । तव कविराज सभामें जाय राजाको 'स्वस्ति' कहकर राजाकी आज्ञासे बैठगया और यह पढने लगा ।

कविषु वादिषु भोगिषु देहिषु द्रविणवत्सु सतामुपकारिषु ।
धनिषु धन्विषु धर्मधनेष्वपि क्षितितले नहि भोजसमो नृपः १८०

कवियोंमें, वादियोंमें, भोगियोंमें, शरीरधारियोंमें, सत्पुरुषोंका उपकार करनेवालोंमें, धनियोंमें और धर्मात्माओंमें इस पृथिवीपर राजा भोजकी समान दूसरा नहीं है ॥ १८० ॥

राजा तस्मै लक्षं प्रादात् । ततः कदाचिद्राजा क्रीडोद्यानं प्रस्थितो मध्येमार्गं कामपि मलिनांशुकं वसानां तीक्ष्णकरतपनकरविदग्धमुखारविंदां सुलोचनां लोचनाभ्यामालोक्य पप्रच्छ ॥

राजाने उस कविको एक लाख रुपये दिये । फिर किसी समय राजा भोज बगीचेको जा रहा था तब मार्गमें मैले वस्त्र पहिरे, प्रचण्ड सूर्य्यकी किरणोंसे मुखमण्डलपर पसीनेको धारे और सुंदर नेत्रोंवाली किसी स्त्रीको देखकर राजाने पूंछा ।

'का त्वं पुत्रि ।' सा च तं श्रीभोजभूपालं मुखश्रिया विदित्वा तुष्टा प्राह—'नरेंद्र लुब्धकवधूः' हर्षसंभृतो राजा तस्याः पदुबंधानुबंधेनाह—'हस्ते किमेतत् ।' सा चाह—'पलम् ।' राजाह—'क्षामं किं ।' सा चाह—सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यादराच्छ्रूयते ॥ गायंति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धांगनाः । गीतं गानतृणं चरंति हरिणास्तेनामिषं दुर्लभम् ॥ १८१ ॥

हे पुत्रि ! तुम कौन हो ? उसने मुखकी कांतिसे राजा भोज जान प्रसन्न होकर कहा हे नरेन्द्र ! मैं पारिधीकी स्त्री हूं । उसके सुखसे ऐसे पदको सुन प्रसन्न होकर राजाने कहा, हाथमें यह क्या है ? वह बोली, मांस है । राजाने पूछा थोडा क्यों है ? उसने कहा हे राजन् ! यदि सादर सुनते हो तो सत्य कहती हूं । तुम्हारे शत्रुओंकी स्त्रियोंके आँसुओंकी नदीके किनारे सिद्धाङ्गना गान करती हैं, वहींपर गानरूपी तृणको हिरण चरते हैं अतएव मांस दुर्लभ हो गया है । (अर्थात् भूखे मृगोंका मांस सूख गया है)॥ १८१ ॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं प्रादात् । सर्वाभरणान्युत्तार्य तं च तुरंगं ददौ । ततो गृहमागत्य गवाक्षे उपविष्टः । तत्र चासीनं भोजं दृष्ट्वा राजवर्त्मनि स्थित्वा कश्चिदाह। देव सकलमहीपाल ! आकर्णय ॥

राजाने उसके प्रत्येक अक्षरपर लाख २ रुपये दिये । और अपने सब

आभूषणोंको उतारकर घोडासहित उसे देदिये । फिर घरमें आकर झरोखोंमें बैठगया । वहां विराजमान भोजको देखकर किसी पुरुषने राजमार्गमें खडे होकर कहा—हे देव ! हे सकलमहीपाल ! सुनो ।

इतश्चेतश्चाद्भिर्विघटिततटः सेतुरुदरे ।
धरित्री दुर्लंघ्या बहुलहिमपंको गिरिरयम् ॥
इदानीं निर्वृत्ते करितुरगनीराजनविधौ ।
न जाने यातारस्तव च रिपवः केन च पथा ॥ १८२ ॥

हे राजन् ! आपकी सेनाके हाथी घोडोंको जल पिलाने, नहलाने और सर्वत्र सेनाकी सजावटसे आपके शत्रु किस मार्गसे जायंगे सो नहीं जान पडता क्योंकि पुलोंके किनारे वा बीचमें बहुत भीड होनेसे पृथ्वी दुर्लंघनीय है और हिमालय पर्वतमें बहुत बर्फ पडता है ॥ १८२ ॥

तुष्टो भोजो वर्त्मनि स्थितायैव तस्मै वंश्यान् पंच गजान् ददौ । कदाचिद्राजा मृगयारसपराधीनो हयमारुह्य प्रतस्थे ॥

यह सुन प्रसन्न हो राजाने मार्गमें स्थित ब्राह्मणको पांच हाथी दिये । किसी समय राजा शिकार खेलनेकी इच्छासे घोडेपर सवार होकर चला ।

ततो नदीं समुत्तीर्णं शिरस्यारोपितेंधनम् ॥
वेषेण ब्राह्मणं ज्ञात्वा राजा प्रपच्छ सत्वरम् ॥ १८३ ॥

तब शिरपर लकडियोंके गट्ठेको धरे नदीमें तिरतेहुए भेषसे ब्राह्मण जान राजाने पूछा ॥ १८३ ॥

कियन्मात्रं जलं विप्र ।

हे विप्र ! कितना जल है ।

स आह—जानुदघ्नं नराधिप ॥

स चमत्कृतो राजाह—ईदृशी किमवस्था ते ।

स आह—न हि सर्वे भवादृशाः ॥ १८४ ॥

ब्राह्मणने कहा हे राजन्! घुटनोंतक। राजाने चमत्कृत होकर कहा विद्वान् होनेपरभी तुम्हारी यह दशा क्यों है? ब्राह्मणने कहा—सब तुम्हारे समान गुणग्राही नहीं हैं॥ १८४॥

राजा प्राह कुतूहलात्। विद्वन्! याचस्व कोशाधिकारिणं, लक्षं दास्यति मद्वचसा। ततो विद्वान् काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकारिणं गत्वा प्राह। महाराजेन प्रेषितोऽहं लक्षं मे दीयताम्। ततः स हसन् आह। विप्र भवन्मूर्तिः लक्षं नार्हति। ततो विषादी स राजानमेत्याह। स पुनर्हसति देव नार्पयति। राजा कुतूहलादाह। लक्षद्वयं प्रार्थय दास्यति। पुनरागत्य विप्रो लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तमित्याह। पुनर्हसति। पुनरपि भोजं प्राप्याह। स पापिष्ठो मां हसति नार्पयति। ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं शासत् श्रीभोजराजः प्राह। विप्र लक्षत्रयं याचस्व अवश्यं स दास्यति। पुनरेत्य प्राह। राजा मे लक्षत्रयं दापयति। स पुनर्हसति। ततः क्रुद्धो विप्रः पुनरेत्याह देव स नार्पयत्येव॥

राजाने सहर्ष कहा कि, हे विप्र! खजानचीके पास जाकर मेरे हुक्मसे एक लाख रुपये लेलो। तब ब्राह्मणने शिरके बोझेको पृथ्वीपर डाल खजानचीके पास जाकर कहा, मुझे महाराजने भेजा है एक लाख रुपये दे दो। तब खजानचीने हंसकर कहा, हे ब्राह्मण! तुम्हारी तो सूरत लाख रुपये योग्य नहीं है। फिर खिन्न मन हो ब्राह्मणने राजाके पास जाकर कहा, हे राजन्! उस खजानचीने रुपये न देकर उपहास किया। तब राजाने सहर्ष कहा, अच्छा दो लाख रुपये मांगो देगा। ब्राह्मणने खजानचीके पास जाकर कहा, अब राजाने दो लाख रुपये देने कहे हैं सो दीजिये। खजानची फिर हँसा, तब फिर भोजके पास जाकर ब्राह्मणने कहा कि, महाराज! वह पापी खजानची हंसता है और मुझे रुपये नहीं

देता है। फिर आनन्दसे क्रीडाके क्षेत्रस्वरूप पृथ्वीके शिक्षक राजा भोजने कहा हे विप्र! अब जाकर तीन लाख रुपये मांगो वह अवश्य देगा। तब ब्राह्मणने खजानचीसे आकर कहा मुझे तीन लाख रुपये दो ऐसा राजाने कहा है। यह सुनकर खजानची फिर हँस दिया तब क्रोधित हो ब्राह्मणने राजासे आकर कहा हे देव! वह तो देताही नहीं।

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति॥
अभाग्यच्छत्रसंछन्ने मयि नायांति बिंदवः॥ १८५॥

हे राजन्! आपकी सुवर्णधारा सभी स्थानोंमें बरस रही है परन्तु अभाग्यरूपी छत्रसे ढके होनेसे मेरे ऊपर बूंदभी नहीं पडती है॥ १८५॥

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः॥
अस्माकमर्कवृक्षाणां पूर्वपत्रेषु संक्षयः॥ १८६॥

हे राजन्! मेघरूपी तुम्हारे वर्षनेसे सम्पूर्ण वृक्षोंपर पत्ते आगये और हमसरीखे आकवृक्षोंके तो पहले पत्तेभी नष्ट हो गये॥ १८६॥

एकमस्य परमेकमुद्यमं निस्त्रपत्वमपरस्य वस्तुनः।
नित्यमुष्णमहसा निरस्यते नित्यमंधतमसं प्रधावति॥१८७॥

लज्जा न करना ही केवल एक मात्र जीवका उपाय है, क्योंकि प्रतिदिन दिनके प्रकाशरूपी उष्णतासे अन्धकार भाग जाता है उसमें किसीको लज्जा नहीं आती है॥ १८७॥

ततो राजा प्राह-

फिर राजाने कहा-

क्रोधं मा कुरु मद्वाक्याद्गत्वा कोशाधिकारिणम्॥
लक्षत्रयं गजेंद्राश्च दश ग्राह्यास्त्वया द्विज॥ १८८॥

हे ब्राह्मण! क्रोध मत करो और मेरी आज्ञासे खजानचीके पास जाओ एवं तीन लाख रुपये और दश हाथी ले लो॥ १८८॥

ततः स्वांगरक्षकं प्रेषयति । ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति ।

पीछे राजाने अपने सेवकको भेजकर दिवा दिया । तब खजानचीने धर्मदफ्तर लिखा ।

लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं मत्ताश्च दश दंतिनः ॥
दत्ताः श्रीभोजराजेन जानुदघ्नप्रभाषिणे ॥ १८९ ॥

लाख, लाख और फिर लाख इस भांति तीन वारकी आज्ञासे तीन लाख रुपये और दश हाथी श्रीराजा भोजने घुटनोंतक जल कहनेवाले विद्वान्को दिये ॥ १८९ ॥

ततः सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह । राजन् ! कोऽपि शुकदेवनामा कविर्द्वारि वर्त्तते । राजा बाणं प्राह । पंडितवर सुकवे ! तत्त्वं विजानासि । बाणः—देव ! शुकदेवपरिज्ञानसामर्थ्याभिज्ञः कालिदास एव नान्यः । राजाह सुकवे सखे कालिदास ! किं एव विजानासि शुकदेवकविम् । आह कालिदासः—देव !

तिसके पीछे सिंहासनपर विराजमान राजा भोजसे आकर द्वारपालने कहा, हे राजन् ! कोई शुकदेवनामक कवि द्वारपर खडे हैं । राजाने बाण-कविसे कहा—हे सुकवे ! आप शुकदेवकविको जानते हो ? बाणने कहा—हे देव ! शुकदेवकविके जाननेकी सामर्थ्य कालिदासके सिवाय दूसरेकी नहीं है । राजाने कहा कि, हे सुकवे ! हे सखे कालिदास ! तुम शुकदेवकविको जानते हो ? कालिदासने कहाहै कि, हे देव !

सुकविद्वितयं जाने निखिलेऽपि महीतले ॥
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोऽनयोः ॥ १९० ॥

समस्त पृथ्वीतलमें केवल दो श्रेष्ठ कवियोंको जानता हूँ एक भवभूति और दूसरे शुकदेवको एवं इन दोनोंके बीचमें तीसरे वाल्मीकिको ॥ १९० ॥

ततो विद्वद्वृन्दवंदिता सीता प्राह—

फिर विद्वानोंसे वन्दित हुई सीता बोली—

अपृष्टस्तु नरः किंचिद्यो ब्रूते राजसंसदि ॥
न केवलमसम्मानं लभते च विडंबनाम् ॥ १९१ ॥

राजसभामें विना पूछे जो मनुष्य कुछ कहता है वह असत्कारकोही नहीं पाता बरन् दुःखकोभी पाताहै ॥ १९१ ॥

देव तथाप्युच्यते—

हे देव ! तौभी कहतीहूं ।

का सभा किं कविज्ञानं रसिकाः कवयश्च के ॥
भोज किं नाम ते दानं शुकस्तुष्यति येन सः ॥ १९२ ॥

हे राजा भोज ! क्या आपकी सभा है, क्या कविका ज्ञान है, क्या रसिक कवि हैं और क्या आपका दान है जिससे शुककवि प्रसन्न हो ॥ १९२ ॥

तथापि भवनद्वारमागतः शुकदेवः सभायामानेतव्य एव । तदा राजा विचारयति । शुकदेवसामर्थ्यं श्रुत्वा हर्षविषादयोः पात्रमासीत् । महाकविरवलोकित इति हर्षः । अस्मै सत्कविकोटिमुकुटमणये किं नाम देयामिति च विषादः । भवतु द्वारपाल ! प्रवेशय । तत आयांतं शुकदेवं दृष्ट्वा राजा सिंहासनादुदतिष्ठत । सर्वे पंडितास्तं शुकदेवं प्रणम्य सविनयमुपवेशयंति । स च राजानं सिंहासन उपवेश्य स्वयं तदाज्ञयोपविष्टः । ततश्शुकदेवः प्राह । देव धारानाथ ! श्रीविक्रमनरेंद्रस्य या दानलक्ष्मीः सा त्वामेव सेवते । देव ! मालवेंद्र एव धन्यो नान्ये भूभुजः । यस्य ते कालिदासादयो महाकवयः सूत्रबद्धाः पक्षिण इव निवसंति । ततः पठति—

तथापि द्वारपर आये शुकदेवकविको सभामें बुलाना चाहिये। तब राजा शोचने लगा, शुकदेवकविकी शक्तिको सुन राजाको हर्ष और क्लेश दोनों हुए। महाकविके दर्शन होंगे इससे तो आनन्द हुआ और श्रेष्ठ कविकोटियोंमें मुकुट-मणिरूप कविको क्या देना चाहिये इससे विषाद हुआ। फिर राजाने कहा कुछ चिन्ता नहीं, हे द्वारपाल! तुम कविको बुलालाओ, फिर शुकदेवकविके आनेपर राजा सिंहासनसे उठा। साथही समस्त पण्डितमंडली शुकदेवकविको प्रणाम कर विनयके साथ बैठगये। शुकदेवकविने राजाको सिंहासनपर बिठाया और आपभी राजाकी आज्ञासे बैठगये। फिर शुकदेवजी बोले—हे देव धारापति! राजा विक्रमादित्यकी दानलक्ष्मी आपकीही सेवा करती है, हे देव मालवेन्द्र! तुम्हीं धन्य हो? जो तुम्हारे यहां कालिदास आदि महाकविगण सूत्रसे बंधे पक्षियोंकी समान वास करते हैं। फिर श्लोक पढा—

प्रतापभीत्या भोजस्य तपनो मित्रतामगात्॥
और्वो वाडवतां धत्ते तडिद् क्षणिकतां गता॥ १९३॥

भोजके प्रतापके डरसे सूर्य मित्रताको प्राप्त हुआ, समुद्रकी अग्नि वाडवताको प्राप्त हुई और बिजली क्षणिकताको प्राप्त होगई॥ १९३॥

राजा—तिष्ठ सुकवे नापरः श्लोकः पठनीयः॥

राजाने कहा हे सुकवे! ठहरो और अभी दूसरा श्लोक न पढना।

सुवर्णकलशं प्रादाद्दिव्यमाणिक्यसंभृतम्॥
भोजः शुकाय संतुष्टो दंतिनश्च चतुःशतम्॥ १९४॥

राजा भोजने प्रसन्नतासे शुकदेव कविको सुन्दर मणियोंसे भरकर कलशको दिया और चार सौ हाथी दिये॥ १९४॥

इति पुण्यपत्रे लिखित्वा सर्वं दत्त्वा कोशाधिकारी शुकं प्रस्थापयामास। राजा स्वदेशं प्रति गतं शुकं ज्ञात्वा तुतोष। सा च परिषत् संतुष्टा। अन्यदा वर्षाकाले वासुदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं दृष्टवान्। राजा सुकवे पर्जन्यं पठ। ततः कविराह—

यह पुण्यपत्रमें लिख राजाका दिया हुआ समस्त धनादि खजानचीने शुकदेवकविको देकर विदा किया । शुकदेवकवि अपने देशको गये यह जानकर राजा प्रसन्न हुआ । फिर वर्षाऋतुमें किसी वासुदेवनामक कविने आकर राजाका दर्शन किया, राजाने कहा हे सुकवे ! मेघका वर्णन करो तब कविने कहा—

नो चिंतामणिभिर्न कल्पतरुभिर्नो कामधेन्वादिभि- ।
र्नो देवैश्च परोपकारनिरतैः स्थूलैर्न सूक्ष्मैरपि ॥
अंभोदेन निरंतरं जलभरैस्तामुर्वरां सिंचता ।
धौरेयेण धुरं त्वयाद्य वहता मन्ये जगज्जीवति ॥ १९५ ॥

चिन्तामणि, कल्पतरु, कामधेनु, देवता, परोपकारी और स्थूल सूक्ष्म कोई चीज नहीं है परन्तु निरन्तर जलपूर्ण पृथिवीको सींचनेवाले, भारसे मन्द २ चलनेवाले मेघके द्वाराही मैं मानता हूँ जगत् जीता है ॥ १९५ ॥

राजा लक्षं ददौ । कदाचिद्राजानं निरंतरं ददानमालोक्य मुख्यामात्यो वक्तुमशक्तो राज्ञः शयनभवनभित्तौ व्यक्तान्यक्षराणि लिखितवान् ॥

राजाने यह सुनकर लाख रुपये दिये । किसी समय राजाको निरन्तर दान करते देख कहनेमें असमर्थ प्रधान मंत्री राजाके सोनेके स्थानकी भीतपर स्पष्ट अक्षरोंद्वारा यह पद लिखता हुआ ।

आपदर्थं धनं रक्षेत्,

विपत्तिके लिये धनकी रक्षा करनी चाहिये ।

राजा शयनादुत्थितो गच्छन् भित्तौ तान्यक्षराणि वीक्ष्य स्वयं द्वितीयचरणं लिलेख—

राजाने जागकर चलते समय भीतपर उन अक्षरोंको देख स्वयं दूसरे पादको लिख दिया ।

श्रीमतामापदः कुतः ॥

श्रीमानोंको कैसी विपत्ति ?

अपरेद्युरमात्यो द्वितीयं लिखितं दृष्ट्वा स्वयं तृतीयं लिलेख ।

दूसरे दिन मंत्रीने दूसरे पादको लिखा देख तीसरा पाद लिख दिया ।

सा चेदपगता लक्ष्मीः,

यह लक्ष्मी चली जायगी तो ?

परेद्यू राजा चतुर्थं लिखति—

अगले दिन राजाने चौथे चरण (पाद) को लिख दिया ।

संचितार्थो विनश्यति ॥ १९६ ॥

सञ्चित धनभी नष्ट हो जाता है ॥ १९६ ॥

ततो मुख्यामात्यो राज्ञः पादयोः पतति । देव क्षंतव्योऽयं ममापराधः । अन्यदा धाराधीश्वरमुपरि सौधभूमौ शयानं मत्वा कश्चिद्विजचोरः खातपातपूर्वं राज्ञः कोशगृहं प्रविश्य बहूनि विविधरत्नानि वैडूर्यादीनि हृत्वा तानि तानि परलोकऋणानि मत्वा तत्रैव वैराग्यमापन्नो विचारयामास ॥

फिर प्रधान (मंत्री) राजाके चरणोंमें गिरपडा (और बोला) हे देव ! मेरा अपराध क्षमा करो । एक समय राजा भोज अपने महलकी छत पर सो रहे थे, इस अवसरको जान कोई चोर ब्राह्मण सुरंग लगाकर राजाके खजानेमें आया और अनेक भांतिके वैडूर्यादि रत्न चुराये फिर उन सबको परलोकका ऋण मानकर वहीं वैराग्यको प्राप्त हो विचारने लगा ।

यद्व्यंगाः कुष्ठिनश्चांधाः पंगवश्च दरिद्रिणः ॥
पूर्वोपार्जितपापस्य फलमश्नंति देहिनः ॥ १९७ ॥

पूर्वजन्मके पापोंके फलसे मनुष्य अंगभंग, कुष्ठी, अंधा, लूला और दरिद्री होता है ॥ १९७ ॥

ततो राजा निद्राक्षये दिव्यशयनस्थितो विविधमणिकंकणालंकृतं दयितवर्गं दर्शनीयमालोक्य गजतुरगरथपदातिसामग्रीं च चिंतयन् राज्यसुखसंतुष्टः प्रमोदभरादाह ॥

फिर राजा जब सोकर उठे तब सुन्दर शय्यापर स्थित अनेक भांतिकी मणि और कंकणोंसे भूषित रानियोंको देख, हाथी, घोडे, रथ, पैदलोंको देख विचारने लगे और प्रसन्न होकर हर्षके साथ बोले ।

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः सद्बांधवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ॥ वल्गंति दंतिनिवहास्तरलास्तुरंगाः ।

मनोहारिणी मेरी स्त्रियां हैं, अनुकूल मित्र हैं, मृदु बोलनेवाले सेवक हैं, हाथी शब्द करतेहैं और घोडे चञ्चल हैं ।

इति चरणत्रयं राज्ञोक्तम् । चतुर्थचरणः राज्ञो मुखान्न निःसरति तदा चोरेण श्रुत्वा पूरितम् ॥

यह तीन पाद राजाने कहे चौथा पाद राजाके मुखसे नहीं निकला तो चोरने सुनकर पूर्ण कर दिया कि-

संमीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति ॥ १९८ ॥

नेत्र मिचनेपर (अर्थात् मरनेपर) कुछभी नहीं है ॥ १९८ ॥

ततो ग्रथितग्रंथो राजा चोरं वीक्ष्य तस्मै वीरवलयमदात् । ततस्तस्करो वीरवलयमादाय ब्राह्मणगृहं गत्वा शयानं ब्राह्मणमुत्थाप्य तस्मै दत्त्वा प्राह । विप्र ! एतद्राज्ञः पाणिवलयं बहुमूल्यमल्पमूल्येन न विक्रेयम् । ततो ब्राह्मणः पण्यवीथ्यां तद्विक्रीय दिव्यभूषणानि पट्टदुकूलानि च जग्राह । ततो राजकीयाः केचन एनं चोरं मन्यमाना राज्ञो निवेदयंति । ततो राजनिकटे नीतः । राजा पृच्छति विप्र ! धार्यं पटमपि नास्ति अद्य प्रातरेव दिव्यकुंडलाभरणपट्टदुकूलानि कुतः । विप्रः प्राह-

फिर श्लोकको पूर्तिको राजाने जान और चोरको देख उसे वीरकङ्कण देदिये । फिर वह चोर वीरकंकणको ले ब्राह्मणके घर गया और सोतेहुए ब्राह्मणको जगाय कंकण देकर बोला, हे विप्र ! यह राजाका कंकण बडे मूल्यका है इसे थोडे मूल्यमें नहीं बेचना, पीछे ब्राह्मणने उसको बाजारमें बेच सुन्दर आभूषण, पाट और रेशमके वस्त्र खरीदे । तब राजाके बहुतसे सेवकोंने इस ब्राह्मणको चोर जान राजासे आकर कहा । फिर उसे राजाके पास लाये । तो राजाने पूंछा हे भूदेव ! पहरने योग्य वस्त्रभी नहीं थे सो आज प्रातःकाल सुन्दर कुण्डल, आभूषण, पाट और रेशमी वस्त्र कहांसे आये ? ब्राह्मणने कहा–

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मांतर्गतं कच्छपैः ।
पाठीनैः पृथुपंकपीठलुठनाद्यस्मिन्मुहुर्मूर्च्छितम् ॥
तस्मिञ्शुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य तच्चेष्टितम् ।
यत्राकुंभनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते ॥ १९९ ॥

जहां मेढक मरोंकी समान कोटरमें पडेथे, कछुए पृथ्वीमें दबे पडे थे और मच्छी कीच गारेमें लोटती मूर्च्छित पडी थीं, उसी सूखे सरोवरमें अकाल मेघने आकर वर्षा ऐसी चेष्टा की जिससे बनैले हाथी भी शिरतक डूब स्नान करके जल पीते हैं ॥ १९९ ॥

तुष्टो राजा तस्मै वीरवलयं चोरप्रदत्तं निश्चित्य स्वयं च लक्षं ददौ । अन्यदा कोऽपि कवीश्वरः विष्णवाख्यो राजद्वारि समागत्य तैः प्रवेशितो राजानं दृष्ट्वा स्वस्तिपूर्वकं प्राह–

यह सुन प्रसन्न हो राजाने उस चोरको वीर कंकण दियाथा यह जान-करभी एक लाख रुपये और दिये । एक समय कोई विष्णुनामक कवीश्वर राजद्वारपर आये तब द्वारपालोंने भीतर प्राप्त किया तो राजाको देख स्वस्ति कहकर बोले–

धाराधीश धरामहेंद्रगणनाकौतूहलीयामयं ।
वेधास्त्वद्गणनां चकार खटिकाखंडेन रेखां दिवि ॥
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वत्तुल्यभूमीधरा- ।
भावात्तत्त्यजति स्म सोयमवनीपीठे तुषाराचलः॥ २०० ॥

हे धारानगरीके स्वामी राजा भोज ! पृथ्वीके महान् राजाओंकी गिनती करनेमें आश्चर्यके साथ ब्रह्माजीने खडिया मट्टीके टुकडेसे आकाशमें आपके नामकी जो रेखा खैंची वही यह आकाशगंगा हो गई । फिर पृथ्वीपर आपकी समान कोई न दीखा तब ब्रह्माजीने वह खडियाका टुकडा भूमिपर फैंकदिया वही टुकडा यह हिमालयपर्वत हो गया है ॥ २०० ॥

राजा लोकोत्तरं श्लोकमाकर्ण्य किं देयमिति व्यचिंतयत् । तस्मिन्क्षणे तदीयकवित्वमप्रतिद्वंद्वमाकर्ण्य सोमनाथाख्यकवेर्मुखं विच्छायमभवत् । ततः स दौष्ट्याद्राजानं प्राह । देवासौ सुकविर्भवति परमनेन न कदापि वीक्षितास्ति राजसभा । यतो दारिद्र्यवारिधिरयम् । अस्य च जीर्णमपि कौपीनं नास्ति । ततो राजा सोमनाथं प्राह–

राजाने लोकोत्तर इस श्लोकको सुन क्या देना चाहिये यह विचारा, उसी समय उसकी सुन्दर कविताको सुन सोमनाथ कविका मुख लज्जित होगया, पीछे दुःखभावसे सोमनाथने राजासे कहा–हे देव ! कवि तो श्रेष्ठ है परन्तु इन्होंने राजसभा नहीं देखी है । अतएव दरिद्रका सागर है । तनपर जीर्ण कौपीनतक नहीं है । तब राजाने सोमनाथसे कहा–

निरवद्यानि पद्यानि यद्यनाथस्य का क्षतिः ॥
भिक्षुणा कक्षनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत् ॥ २०१ ॥

जो कविता सुन्दर है तो इस अनाथकी क्या हानि है । क्योंकि ईखका (गन्नेका) टुकडा भिक्षुकके कांखमें दाबनेसे वह रसहीन नहीं होता है॥ २०१ ॥

ततः सर्वेभ्यः तांबूलं दत्त्वा राजा सभाया उदतिष्ठत्। सर्वैरप्यन्योन्यमित्यभ्यधायि। अद्य विष्णुकवेः कवित्वमाकर्ण्य सोमनाथेन सम्यग्दौष्ट्यमकारि। ततः समुत्थिता विद्वत्परिषत्। ततो विष्णुकविरेकं पद्यं पत्रे लिखित्वा सोमनाथकविहस्ते दत्त्वा प्रणम्य गंतुमारभत। अत्र सभायां त्वमेव चिरं नंद। ततो वाचयति सोमनाथकविः॥

पीछे सबको ताम्बूल देकर राजा उठा। तब सबने परस्पर कहा कि, आज विष्णुकविकी कविता सुन सोमनाथने बडी दुष्टता की। फिर विद्वानोंकी सभाभी उठ गई। अनन्तर विष्णुकविने एक पत्रपर श्लोक लिखकर सोमनाथकविके हाथमें दे प्रणाम कर जानेकी इच्छा प्रकट की और कहा इस सभामें तुम्हीं चिरकालतक प्रसन्नतासे रहो। फिर सोमनाथ कविने श्लोकको पढा—

एतेषु हा तरुणमारुतधूयमान-।
दावानलैः कवलितेषु महीरुहेषु॥
अंभो न चेज्जलद मुंचसि मा विमुंच।
वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय कस्य हेतोः॥ २०२॥

हे मेघ! यही खेद है कि, प्रचंड पवनद्वारा धूयमान दावानलसे ग्रसित वृक्षोंपर जल नहीं वर्षाता तो मत वर्षा परन्तु हे निर्दयी मेघ! तू वज्र क्यों छोडता है॥ २०२॥

ततः सोमनाथकविः निखिलामपि पट्टदुकूलवित्तहिरण्मयीं तुरंगमादिसंपत्तिं कलत्रवस्त्रावशेषं दत्तवान्। ततो राजा मृगयारसप्रवृत्तो गच्छन् तं विष्णुकविमालोक्य व्यचिंतयत्। मया अस्मै भोजनमपि न प्रदत्तम्। मामनादृत्य अयं संपत्तिपूर्णः स्वदेशं प्रति यास्यति। पृच्छामि विष्णुकवे! कुतः संपत्तिः प्राप्ता?

तव सोमनाथकविने अपने समस्त पाट, रेशमीवस्त्र, द्रव्य, सुवर्ण आदि, घोडे और संपूर्ण संपत्ति उस कविको दे दी केवल एक पहने हुए वस्त्र और स्त्री शेष रक्खी। फिर राजाने शिकारको जाते समय मार्गमें विष्णुकविको देखकर विचारा कि, इसको भोजन भी नहीं दिया। (और) यह मेरा अनादर करके पूर्ण संपत्तिको लिये अपने देशको जाताहै। राजाने पूछा-- हे विष्णुकवि! यह संपत्ति कहाँसे मिली?

कविराह ॥

कविने कहा।

सोमनाथेन राजेंद्र देव त्वद्गुणभिक्षुणा ॥
अद्य शोच्यतमे पूर्णं मयि कल्पद्रुमायितम् ॥ २०३ ॥

हे देव! हे राजेन्द्र! तुम्हारे गुणोंके भिक्षुक सोमनाथ कविने मेरी दरिद्रता दशामें कल्पवृक्षकी समान वाञ्छित फल दिया ॥ २०३ ॥

राजा पूर्वं सभायां श्रुतस्य श्लोकस्य अक्षरलक्षं ददौ। सोमनाथेन च यावद्दत्तं तावदपि सोमनाथाय दत्तवान्। सोमनाथः प्राह—

राजाने पूर्वसभामें जो श्लोक सुनाथा उस श्लोकके प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये और सोमनाथकविने जितना दिया था उतना सोमनाथ कविको भी दे दिया। तव सोमनाथने कहा--

किसलयानि कुतः कुसुमानि वा।
क्व च फलानि तथा वनवीरुधाम् ॥
अयमकारणकारुणिको यदा।
न तरतीह पयांसि पयोधरः ॥ २०४ ॥

जब अकारण दयालु मेघ जल नहीं वर्षावेगा तो वनके वृक्षोंपर पत्ते, फूल और फल कैसे लगेंगे ॥ २०४ ॥

ततो विष्णुकविः सोमनाथदत्तेन राज्ञा दत्तेन च तुष्टवान्। तदा सीमंतकविः प्राह—

फिर विष्णुकवि सोमनाथ और राजासे धन मिलनेसे परम प्रसन्न हुआ। तब सीमन्त कविने कहा--

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां ।
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोनिधिरादरा- ।
दहह महतां निस्सीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ २०५ ॥

शेषजी अपने फणके एक भागमें समस्त भुवनको धारे है, कच्छपजीने सदा उन शेषजीको अपनी पीठपर धारण किया है और उन कच्छपजीको समुद्रने आदरसे अपने उदरमें डाल रक्खा है अहा ! देखो कैसे आनन्दकी बात है कि, बडोंकी विभूति भी अपार होती है ॥ २०५ ॥

कदाचित्सौधतले राजानमेत्य भृत्यः प्राह। देव! अखिलेष्वपि कोशेषु यद्वित्तजातमस्ति, तत्सर्वं देवेन कविभ्यो दत्तम् । परंतु कोशगृहे धनलेशोऽपि नास्ति। कोऽपि कविः प्रत्यहं द्वारि तिष्ठति। इतः परं कविर्विद्वान् वा कोऽपि राज्ञे न प्राप्य इति मुख्यामात्येन देवसन्निधौ विज्ञापनीयमित्युक्तम्। राजा कोशस्थं सर्वं दत्तमिति जानन्नपि प्राह। अद्य द्वारस्थं कविं प्रवेशय। ततो विद्वानागत्य स्वस्तीति वदन् प्राह--

किसी समय राजभवनके नीचे राजासे सेवकने कहा कि, हे देव ! सभी खजानोंका धन आप कवियोंको दे चुके अब वह खाली हो गये हैं। कोई कवि प्रतिदिन द्वारपर खडा रहता है, अब किसी कवि वा विद्वान्को राजाके पास न जाने देना यह प्रधानमंत्रीकी आज्ञा आपको सुनाई । तब राजा भोजने खजानोंके रीते होनेको जानकरभी कहा द्वारपर विराजमान कविको शीघ्र भेजो। फिर किसी विद्वान्ने आकर " स्वस्ति " कहकर कहा--

नभसि निरवलंबे सीदता दीर्घकालं ।
त्वदभिमुखविसृष्टोत्तानचंचूपुटेन ॥
जलधर जलसारो दूरतस्तावदास्तां ।
ध्वनिरपि मधुररते न श्रुतश्चातकेन ॥ २०६ ॥

हे मेघ ! विना अवलम्बके चिरकालसे दुःख पाते हुए तेरे सन्मुख चोंचको फैलाय चातकने मधुर वचनभी नहीं सुने, जलकी बून्द तो दूर रही ॥ २०६ ॥

राजा तदाकर्ण्य धिग्जीवितं यद्विद्वांसः कवयश्च द्वारमागत्य सीदंतीति । तस्मै विप्राय सर्वाण्याभरणान्युत्तार्य ददौ । ततो राजा कोशाधिकारिणमाहूयाह । भांडारिक ! मुंजराजस्य तथा मे पूर्वेषां च ये कोशाः संति तेषां मध्ये रत्नपूर्णान्कलशानानय । ततः काश्मीरदेशान्मुचुकुन्दकविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह-

राजाने यह सुनकर विचारा कि अब जीवनको धिक्कार है क्योंकि विद्वान् और कवि द्वारपर आकर दुःख पाते हैं । उस ब्राह्मणको समस्त आभूषण उतारकर राजाने दे दिये । पीछे राजाने खजानचीको बुलाकर कहा-हे भाण्डारिक ! राजा मुंजक अथवा मेरे पूर्वजोंके खजानेमेंसे रत्नोंसे पूर्ण कलशको लाओ । फिर काश्मीरदेशसे मुचुकुंदकविने आकर "स्वस्ति" कहकर कहा--

त्वद्यशोजलधौ भोज निमज्जनभयादिव ॥
सूर्येंदुबिंबमिषतो धत्ते कुंभद्वयं नभः ॥ २०७ ॥

हे भोज ! आपके यशरूपी सागरमें डूबनेके भयसे यह आकाश चंद्र और सूर्यके मिससे दो घट धारण किये है ॥ २०७ ॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । पुनः कविराह-

राजाने उस कविके एक २ अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये फिर कविने कहा-

आसन् क्षणानि यावंति चातकाश्रूणि तेऽम्बुदे ॥
तावंतोऽपि त्वयोदार न मुक्ता जलबिंदवः ॥ २०८ ॥

हे मेघ ! तुमने जल वर्षानेमें जितनी देर की है चातकके उतने ही कालतक आंसू निकले हैं सो हे उदार मेघ ! तुमने चातकके आंसुओंकी बून्दोंके बराबरभी जलकी बून्दें नहीं वर्षाईं ॥ २०८ ॥

ततः स राजा तस्मै शततुरगानपि ददौ ततो भांडारिको लिखति ॥

पीछे राजाने उसको सौ घोडे और दिये । तब खजानचीने धर्मपत्रपर लिखा ।

मुचुकुंदाय कवये जात्यानश्वाञ्शतं ददौ ॥
भोजः प्रदत्तलक्षोऽपि तेनासौ याचितः पुनः ॥ २०९ ॥

राजा भोजने श्लोकके प्रत्येक अक्षरपर कविको लाख २ रुपयेभी दे दिये परन्तु जब कविने पुनः परीक्षा की तो सौ घोडे भी मुचुकुंदकविको दिये ॥ २०९ ॥

ततो राजा सर्वानपि वेश्म प्रेषयित्वांतर्गच्छति । ततो राज्ञश्चामरग्राहिणी प्राह—

पीछे राजा सबको घर भेजकर महलमें गये, वहाँ राजाकी दासीने चमर डुलाते हुए कहा—

राजन्मुंजकुलप्रदीप सकलक्ष्मापालचूडामणे ।
युक्तं संचरणं तवाद्भुतमणिच्छत्रेण रात्रावपि ॥
मा भूत्त्वद्वदनावलोकनवशाद्व्रीडाविनम्रः शशी ।
मा भूच्चेयमरुंधती भगवती दुश्शीलताभाजनम् ॥ २१० ॥

हे राजन् ! हे मुंजकुलदीपक ! हे सकल राजाओंके चूडामणि ! आपके अद्भुत मणियोंके छत्रके प्रकाशसे रात्रिमें चलना उचित है, किन्तु तुम्हारे मुखकमलको देख चन्द्र लज्जित न हो और भगवती अरुन्धती दुःशीला न हो ॥ २१० ॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । अन्यदा कुंडिननगराद्गोपालो नाम कविरागत्य स्वस्तिपूर्वकं प्राह—

राजाने उस दासीके एक २ अक्षरपर एक २ लक्ष रुपये दिये । किसी समय कुण्डिन नगरसे गोपालनामक कविने आकर 'स्वस्ति' कहकर कहा—

त्वच्चित्ते भोज निर्यातं द्वयं तृणकणायते ॥
क्रोधे विरोधिनां सैन्यं प्रसादे कनकोच्चयः ॥ २११ ॥

हे भोज ! आपके चित्तमें उदय हुई दो वस्तुयें तृण और कणकी समान आचरण करती हैं । अर्थात् आपके क्रोधमें शत्रुकी सेना तृणकी समान और प्रसन्नतामें सोनेका पर्वत कणकी समान आचरण करता है ॥ २११ ॥

राजा श्रुत्वापि तुष्टो न दास्यति । राजपुरुषैः सह चर्चां कुर्वाणस्तिष्ठति । ततः कविर्व्यचिंतयत् । किमु राज्ञा नाश्रावि । ततः क्षणेन समुन्नतमेघमवलोक्य राजानं कविराह—

राजाने सुनकर प्रसन्न होनेपरभी कुछ नहीं दिया । अपने मंत्रियोंके साथ वार्तालाप करताहुआ बैठारहा । तब कविने विचारा कि, क्या राजाने नहीं सुना । फिर उसी समय राजाको मेघ समुन्नत देखकर कहा—

हे पाथोद यथोन्नतं हि भवता दिग्व्यावृता सर्वतो ।
मन्ये धीर तथा करिष्यसि खलु क्षीराब्धितुल्यं सरः ॥
किं त्वेष क्षमते नहि क्षणमपि ग्रीष्मोष्मणा व्याकुलः ।
पाठीनादिगणस्त्वदेकशरणस्तद्वर्ष तावत्क्रियत् ॥ २१२ ॥

हे मेघ ! हे धीर ! यह मैं जानताहूं कि, तुम फैलकर समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो पृथ्वीके सम्पूर्ण सरोवरोंको क्षीरसागरकी समान अवश्य कर दोगे, किन्तु ग्रीष्मऋतुकी उष्णतासे व्याकुल तुम्हारे आश्रित मीनादि जीव इस दुःखको नहीं सह सक्ते हैं । अतएव आरम्भमें कुछ तो वर्षा करो ॥ २१२ ॥

राजा कविहृदयं विज्ञाय गोपालकवे ! दारिद्र्याग्निना नितांतं दग्धोऽसीति वदन् षोडश मणीनघर्यान् षोडश दंतींद्रांश्च ददौ। एकदा राजा धारानगरे विचरन् कचिच्छिवालये प्रसुप्तं पुरुषद्वयमपश्यत् । तयोरेको विगतनिद्रो वक्ति । अहो त्वं ममास्तरासन्न एव कस्त्वं प्रसुप्तोऽसि जागर्षि नो वा । ततस्त्वपर आह । विप्र प्रणतोऽस्मि अहमपि ब्राह्मणपुत्रः त्वामत्र प्रथमरात्रे शयानं वीक्ष्य प्रदीते च प्रदीपे कमंडलूपवीतादिभिर्ब्राह्मणं ज्ञात्वा भवदास्तरासन्न एवाहं प्रसुप्तः । इदानीं त्वद्गिरमाकर्ण्य प्रबुद्धोऽस्मि । प्रथमः प्राह । वत्स ! यदि त्वं प्रणतोऽसि ततो दीर्घायुस्तव । वद कुत आगम्यते किं ते नाम अत्र च किं कार्यम् । द्वितीयः प्राह । विप्र भास्कर इति नाम । पश्चिमसमुद्रतीरे प्रभासतीर्थसमीपे वसतिर्मम । तत्र भोजस्य वितरणं बहुभिर्व्यावर्णितं ततो याचितुमहमागतः । त्वं मम वृद्धत्वात्पितृकल्पोऽसि । त्वमपि वद । स आह । वत्सशाकल्य इति मे नाम । मया एकशिलानगर्या आगम्यते भोजं प्रति द्रविणाशया । वत्स ! त्वयानुक्तमपि दुःखं त्वयि ज्ञायते । कीदृशं तद्वद ततो भास्करः प्राह । तात ! किं ब्रवीमि दुःखम् ॥

राजाने कविके हृदयके भावको जानकर कहा--हे गोपालकवे ! तुम दारिद्रताकी अग्निसे निरन्तर दग्ध हो रहे हो यह कह राजाने उस कविको बहुमूल्यकी सोलह मणियें दीं और उत्तम सोलह हाथी दिये । एक दिन धारानगरीमें विचरते हुए राजाने किसी शिवालयमें सोते हुए दो मनुष्योंको देखा । उनमेंसे एकने जागकर कहा—अहो ! तू कौन है जो मेरे बिस्तरके समीप सोया है । जागता है वा नहीं । तब दूसरा बोला—हे भूदेव ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, मैं भी ब्राह्मणकुमार हूँ । आपको यहाँ सोया देख दीप-

-कके प्रकाशमें यज्ञोपवीत और कमण्डलुको देख ब्राह्मण जान विस्तरके समीप सोरहा । अब तुम्हारे वचन सुनकर जागा हूं । प्रथम ब्राह्मणने कहा-हे वत्स ! जो तुमने प्रणाम किया तिससे तुम्हारी आयु बढे, कहो कहाँसे आये, क्या नाम है और क्या कामहै ? दूसरे ब्राह्मणने कहा-हे विप्र ! मेरा नाम भास्कर है, पश्चिम सागरके किनारे प्रभास तीर्थके निकट रहता हूँ । अनेक पुरुषोंके मुखसे राजा भोजका दान सुनकर याचनाके लिये यहाँ आया हूं । तुम आयुमें बडे होनेसे मेरे पिताके समान हो, तुमभी अपना परिचय दो । तब वह बोला-हे वत्स ! मुझे शाकल्य कहते हैं, एकशिलानगरीसे धनकी आशा लगाय भोजके समीप आया हूँ । हे वत्स ! तुम्हारे न कहनेपरभी मैं तुम्हें दुःखी जानता हूँ, सो क्या दुःख है ? कहो तो सही । तब भास्करने कहा-हे तात ! दुःखको क्या कहूं ।

क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव भृशं मंदाशयो बांधवा ।
लिप्ता जर्जरघर्घरी जतुलवैर्नो मां तथा बाधते ॥
गेहिन्या त्रुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकु स्मितं ।
कुप्यंती प्रतिवेशमलोकगृहिणी सूचिं यया याचिता ॥२१३॥

क्षुधासे क्षीणकाय हो बालक शवकी समान हो गये हैं, कुटुम्बीजन मेरी ओरसे मनको हटाये हैं, घरमें फूटे कलशको लाखके टुकडोंसे जोडकर रक्खा है, दारिद्रतासे यह दशाभी मुझे दुःखद नहीं है परन्तु फटे वस्त्रोंके लिये मेरी स्त्री जब सुई मांगनेको गांवकी स्त्रियोंमें जाती है तब वह स्त्रियें तो मुखसे मंद हँसती हुई जो कुपित होतीहैं यही दुःख मुझे मारे डालता है ॥ २१३ ॥

राजा श्रुत्वा सर्वाभरणान्युत्तार्य तस्मै दत्त्वा प्राह । भास्कर सीदंत्यतीव ते बालाः झटिति देशं याहि । ततः शाकल्यः प्राह-

राजाने सुनकर अपने सब आभूषणोंको उतार ब्राह्मणको दे दिये और कहा- हे भास्कर ! तुम्हारे बालक बडे दुःखी होंगे अतः तुम शीघ्र देशको जाओ । फिर शाकल्यने कहा-

अत्युद्धृता वसुमती दलितोऽरिवर्गः।
क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मीः ॥
एकत्र जन्मनि कृतं यदनेन यूना ।
जन्मत्रये तदकरोत्पुरुषः पुराणः ॥ २१४ ॥

राजा भोजने पृथ्वीका उद्धार किया, शत्रुओंको दलित किया और राजा बलिकी राजलक्ष्मी छीन ली यह विष्णुके तीन जन्मोंमें करने योग्य कर्मोंको राजा भोजने एकही जन्ममें करलिया ॥ २१४ ॥

ततो राजा शाकल्याय लक्षत्रयं दत्तवान् । अन्यदा राजा मृगयारसेन विचरन् तत्र पुरः समागतहरिण्यां बाणेन विद्धायामपि वित्ताशया कोऽपि कविराह-

तब राजाने शाकल्यको तीन लाख रुपये दिये । एक समय राजाने शिकार खेलते हुए हिरणीको बाणसे वेधा तब द्रव्यकी आशासे किसी कविने कहा--

श्रीभोजे मृगयां गतेऽपि सहसा चापे समारोपितेऽ- ।
प्याकर्णान्तगतेऽपि मुष्टिगलिते बाणेऽगलग्नेऽपि च ॥
स्थानान्नैव पलायितं न चलितं नोत्कंपितं नोत्प्लुतं ।
मृग्या मद्वशगं करोति दयितं कामोऽयमित्याशया ॥२१५ ॥

राजा भोज ! आपके शिकारके लिये आनेपरभी, बाण धनुषपर चढानेपरभी, कानतक खैंचनेपरभी, मुट्ठीसे छोडनेपरभी और अंगमें लगनेपरभी यह हरिणी कामदेव मेरे पतिको मेरे वशमें करता है यों मोहित होकर न भागी, न चली, न कांपी और न कूदी केवल अचल खडी रही ॥ २१५ ॥

राजा तस्मै लक्षत्रयं प्रयच्छति । अन्यदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह । देव ! जाह्नवीतीरवासिनी काचन वृद्धब्राह्मणी विदुषी द्वारि तिष्ठति । राजा प्राह प्रवेशय । ततआगच्छंतीं राजा प्रणमति । सा तं चिरंजीवेत्युक्त्वाह-

राजाने उस कविको तीन लाख रुपये दिये। एक दिन राजा भोज सिंहासनपर बैठे थे तब द्वारपालने आकर कहा–हे देव ! गंगातटवासिनी कोई विदुषी ब्राह्मणी द्वारे खडी है। राजाने कहा–लेआओ फिर ब्राह्मणीके आनेपर राजाने प्रणाम किया उस ब्राह्मणीने 'चिरञ्जीव रहो' यह कहकर कहा--

भोजप्रतापाग्निरपूर्व एष जागर्ति भूभृत्कटकस्थलीषु ॥
यस्मिन् प्रविष्टे रिपुपार्थिवानां तृणानि रोहंति गृहांगणेषु २१६

यह भोजकी अपूर्व प्रतापरूपी अग्नि पर्वतोंके कटकस्थलमें जाग रही है, जिस प्रतापरूपी अग्निके प्रवेश होनेपर शत्रुराजाओंके घरके आंगनमें तृण जमआते हैं अर्थात् आपके प्रतापसे समस्त शत्रु नष्ट होगये और उनके घरोंमें घास उपजने लगी ॥ २१६ ॥

राजा तस्यै रत्नपूर्णं कलशं प्रयच्छति। ततो लिखति भांडारिकः॥

राजाने उस ब्राह्मणीको रत्नोंसे पूर्ण कलश दिया। तब खजानचीने धर्मपत्रपर लिखा।

भोजेन कलशो दत्तः सुवर्णमणिसंभृतः ॥
प्रतापस्तुतितुष्टेन वृद्धायै राजसंसदि ॥ २१७ ॥

प्रतापकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर राजा भोजने राजसभामें वृद्धाको सुवर्णमणियोंसे पूर्ण कलश दिया ॥ २१७ ॥

अन्यदा दूरदेशादागतः कश्चिच्चोरो राजानं प्राह। देव ! सिंहलदेशे मया काचन चामुण्डालये राजकन्या दृष्टा। सा च मां दृष्ट्वा मालवदेशदेवस्य महिमानं बहुधा श्रुतं त्वमपि वदेति पप्रच्छ। मया च तस्यै देवगुणा व्यावर्णिताः सा चात्यंततोषाच्चंदनतरोर्निरुपमं गर्भखंडं दत्त्वा यथास्थानं प्रपेदे। देव ! गुणाभिवर्णनप्राप्तं तदेतद्गृहाण। एतत्प्रसूनपरिमलभरणे भृंगा भुजंगाश्च समायांति। राजा तद्गृहीत्वा तुष्टस्तस्मै लक्षं दत्तवान्। ततो दामोदरकविस्तन्मिषेण राजानं स्तौति ॥

एक समय गूर्देशसे आकर किसी चोरने राजासे कहा—हे देव ! सिंहलदेशमें देवोंके मंदिरमें किसी राजकुमारीको मैंने देखा है । वह मुझे देखकर पूछने लगी कि, मालवेके राजाकी महिमा बहुतोंके मुखसे सुनी है सो तुमभी कहो । हे देव ! तब मैंने उसके आगे गुणवर्णन किया । तब उसने बडे आनंदसे चन्दनके वृक्षका सुंदर बीचका टुकडा दिया और अपने स्थानको चली गई । हे देव ! आपके गुणोंके बखानसे जो यह चन्दनका टुकडा प्राप्त हुआ है इसको आप ग्रहण कीजिये । देखो इसकी सुगंधिसे भ्रमर और सर्प आते हैं । राजाने उसको लेकर प्रसन्न हो एक लाख रुपये दिये । फिर दामोदरकविने उसके मिषसे राजाकी स्तुति की ।

श्रीमच्चंदनवृक्ष संति बहवस्ते शाखिनः कानने ।
येषां सौरभमात्रकं निवसति प्रायेण पुष्पश्रिया ॥
प्रत्यंगं सुकृतेन तेन शुचिना ख्यातः प्रसिद्धात्मना ।
योऽसौ गंधगुणस्त्वया प्रकटितः क्वासाविह प्रेक्ष्यते ॥२१८॥

हे श्रीमन् ! हे चन्दनवृक्ष ! वनमें ऐसे अनेक वृक्ष हैं जिनके फूलोंमें सुगंधि रहती है और जो यह गन्ध तुमसे प्रगट है सो वह पुण्यके प्रतापसे प्रसिद्ध आत्मासे तुम्हारे सभी अंगोंमें विख्यात है सो तुम यहां किसको देखते हो ॥ २१८ ॥

राजा स्वस्तुतिं बुद्ध्वा लक्षं ददौ । ततो द्वारपाल आगत्य प्राह । देव ! काचित्सूत्रधारी स्त्री द्वारि वर्तते । राजाह प्रवेशय ॥ ततः सागत्य राजानं प्रणिपत्याह—

राजाने अपनी स्तुति जानकर उसको लाख रुपये दिये । पीछे द्वारपालने आकर कहा—हे देव ! कोई सूत्रधारिणी स्त्री द्वारे खडी है । राजाने कहा भेज दो । उसने आकर राजाको प्रणाम करके कहा—

बलिः पातालनिलयोऽधःकृतश्चित्रमत्र किम् ॥
अधःकृतो दिवस्थोऽपि चित्रं कल्पद्रुमस्त्वया ॥ २१९ ॥

पातालवासी बलिको आपने। नीचे कर दिया इसमें विचित्रता क्यां है जब स्वर्गमें स्थित कल्पवृक्षको भी आपने नीचे कर दिया ॥ २१९ ॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रांतः राजा क्वचित्सहकारतरोरधस्तात्तिष्ठतिस्म। तत्र मल्लिनाथाख्यकविरागत्य प्राह—

राजाने उसको प्रत्येक अक्षरके एक २ लाख रुपये दिये। फिर किसी समय राजाने शिकार खेलनेसे थककर आमके वृक्षकी छायामें विराम किया। तब मल्लिनाथ कविने आकर कहा—

शाखाशतशतविततः संति कियंतो न कानने तरवः ॥
परिमलभरमिलदलिकुलदलितदलाः शाखिनो विदलाः ॥२२०॥

सौ सौ शाखाओंवाले वृक्ष वनमें बहुत हैं किन्तु सुगंधिके भारसे युक्त भ्रमरोंके दलसे वेष्टित पत्रवाले वृक्ष बहुत कम हैं ॥ २२० ॥

ततो राजा तस्मै हस्तवलयं ददौ। तत्रैव आसीने राज्ञि कोऽपि विद्वानागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह। राजन्! काशीदेशमारभ्य तीर्थयात्रया परिभ्राम्यते दक्षिणदेशवासिना मया। राजा—त्वादृशां तीर्थवासिनां दर्शनात्कृतार्थोऽस्मि। स आह। वयं मांत्रिकाश्च। राजा—विप्रेषु सर्वं संभाव्यते। राजा पुनः प्राह। मंत्रविद्यया यथा परलोकफलप्राप्तिः तथा किमिह लोकेऽप्यस्ति। विप्रः—राजन्! सरस्वतीचरणाराधनाद्विद्यावाप्तिर्विश्वविदिता परं धनावाप्तिर्भाग्याधीना ॥

पीछे राजाने उसको अपने हाथका कङ्कण दे दिया। राजा वहीं रहा इतनेमें किसी विद्वान्ने आकर 'स्वस्ति' कह आशीर्वाद देकर कहा—हे राजन्! मैं दक्षिणदेशवासी काशीसे तीर्थयात्रा करता हुआ आया हूं, राजाने कहा आपके समान तीर्थसेवियोंके दर्शनोंसे मैं कृतार्थ हुआ। ब्राह्मणने कहा मैं मंत्रशास्त्रको जानता हूं। तब राजा बोला—महाराज! ब्राह्-

णोंमें सब हो सक्ता है। राजाने फिर कहा--हे विप्र ! मंत्रविद्यासे जैसे पर-लोकमें फल मिलता है वैसे इस लोकमेंभी मिल सक्ता है ? ब्राह्मणने कहा—हे राजन् ! सरस्वतीकी चरणसेवासे इस लोकमें विद्याकी प्राप्ति होती है परन्तु धनकी प्राप्ति भाग्यके अधीन है।

गुणा खलु गुणा एव न गुणा भूतिहेतवः ॥
धनसंचयकर्तॄणि भाग्यानि पृथगेव हि ॥ २२१ ॥

गुण तो गुणही हैं कुछ संपत्तिके कारण गुण नहीं हैं। धनका संचय करनेवाला भाग्य दूसरा है ॥ २२१ ॥

देव ! विद्यागुणा एव लोकानां प्रतिष्ठायै भवंति न तु केवलं संपदः। देव !

हे देव ! लोकोंकी प्रतिष्ठाके लिये विद्यागुणही कहा है केवल संपत्ति नहीं कही है। हे देव ! सुनो—

आत्मायत्ते गुणग्रामे नैर्गुण्यं वचनीयता ॥
दैवायत्तेषु वित्तेषु पुंसां का नाम वाच्यता ॥ २२२ ॥

गुणराशि इस जीवात्माके अधीन हैं, अतएव जो मनुष्य गुणोंको ग्रहण नहीं करते उनकी मूर्खताकी निन्दा होती है और धनको प्रारब्धके अधीन होनेके कारण निर्धनकी निन्दा नहीं होती है ॥ २२२ ॥

देव! मंत्राराधनेनाप्रतिहता शक्तिः स्यात्। देव! एवं कुतूहलं यस्य। मया यस्य शिरसि करो निधीयते स सरस्वतीप्रसादेन अस्खलितविद्याप्रसारः स्यात्। राजा प्राह। सुमते! महती देवताशक्तिः। ततो राजा कामपि दासीमाकार्य विप्रं प्राह। द्विजवर! अस्या वेश्यायाः शिरसि करं निधेहि। विप्रस्तस्याः शिरसि करं निधाय तां प्राह देवि ! यद्राजाज्ञापयति तद्वद। ततो दासी प्राह देवाहमद्य समस्तवाङ्मयजातं हस्तामलकवत्पश्यामि देवादिश किं

वर्णयामि । ततो राजा पुरः खड्गं वीक्ष्य प्राह । खड्गं मे व्यावर्णयेति । दासी प्राह—

हे देव ! मंत्रोंकी आराधनासे अरोघशक्ति हो जाती है । हे देव ! उसका यह आश्चर्य है कि, मैं जिसके शिरपर हाथ रख दूं वही सरस्वतीकी कृपासे धाराप्रवाहविद्यासम्पन्न हो जाता है । राजाने कहा, हे सुमते ! दैवशक्ति विशाल है । फिर राजाने दासीको बुलाकर कहा, हे विप्रवर ! इस दासीके शिरपर हाथ धरो । ब्राह्मणने उसके शिरपर हाथ धरकर कहा—हे देवि ! जो राजा आज्ञा दे उसे कहो । तब दासी बोली—हे देव ! मैं सम्पूर्ण वाणीमय शास्त्रको हाथमें स्थित आंवलेकी समान देखती हूं । हे देव ! आज्ञा दीजिये क्या वर्णन करूं ? फिर राजाने सामने खड्गको देखकर कहा—मेरे खड्गका वर्णन कर । दासी बोली—

धाराधर त्वदसिरेष नरेंद्र चित्रं वर्षति वैरिवनिताजनलोचनानि ॥ कोशेन संगतमसंगतिराहवेऽस्य दारिद्र्यमभ्युदयति प्रतिपार्थिवानाम् ॥ २२३ ॥

हे धाराधर ! हे नरेंद्र ! यह तुम्हारा खड्ग बडा विचित्र है । शत्रुओंकी स्त्रियोंके नेत्रोंमें आंसुओंकी धारा वर्षाता है, युद्धक्षेत्रमें म्यानसे बाहर रहता है और समस्त राजाओंको दीन करता है ॥ २२३ ॥

राजा तस्यै रत्नकलशाननर्घ्यान् पंच ददौ । ततस्तस्मिन् क्षणे कुतश्चित् पंच कवयः समाजग्मुः । तानवलोक्य ईषद्विच्छायमुखं राजानं दृष्ट्वा महेश्वरकविः वृक्षमिषेणाह—

राजाने सुनकर उसको पांच अमूल्य कलश दिये । फिर उसी समय कहींसे पांच कवि आये । उनको देख कुछ मुख मलीन होते राजाको निहार महेश्वर कविने वृक्षके मिषसे कहा—

किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरच्छायोऽसि किं छायया ।
छन्नश्चेत् फलितोऽसि किं फलभरैः पूर्णोऽसि किं संवृतः ॥

हे सद्वृक्ष सहस्व संप्रति चिरं शाखाशिखाकर्षणं ।
क्षोभामोटनभंजनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः ॥ २२४ ॥

हे सद्वृक्ष ! तुम चौराहेमें क्यों उपजे ? घनी छाया क्यों धारी ? छायासे आच्छादित होकर क्यों फले हो ? और फलोंके भारसे क्यों पूर्ण हुए हो ? यदि ऐसा होगया है तो अब अपनीहि बुरी चेष्टाओंसे मनुष्योंके शाखाशिखाओंके खींचने, क्रोधसे मोडने और तोडने आदि दुःखको चिरकालतक सहो ॥ २२४ ॥

ततो राजा तस्मै लक्षं ददौ । ततस्ते द्विजवराः पृथक्पृथगाशीर्वचनमुदीर्य यथाक्रमं राजाज्ञया कंबल उपविश्य मंगलं चक्रुः। तत एकः पठति ॥

फिर राजाने उसको लाख रुपये दिये। तिसके पीछे वह विप्रवर पृथक् २ आशीर्वाद दे राजाकी आज्ञासे क्रमानुसार कंबलपर बैठकर मंगल करने लगे फिर उनमेंसे एकने पढा।

कूर्मः पातालगंगापयसि विहरतां तत्तटीरूढमुस्ता- ।
मादत्तामादिपोत्री शिथिलयतु फणामंडलं कुंडलींद्रः ॥
दिङ्मातंगा मृणालीकवलनकलनां कुर्वतां पर्वतेंद्राः ।
सर्वे स्वैरं चरंतु त्वयि वहति विभो भोज देवीं धरित्रीम् ॥२२५॥

हे भोज ! हे समर्थ ! तुम्हारे पृथ्वी धारण करनेसे कूर्म तो पातालगंगामें क्रीडा करता है, वराहावतार उस गंगाके किनारे जमे हुए मोथियोंको खाता है, शेषजी अपने फणमंडलको हटाकर आराम करते हैं और दिशाओंके हाथी कमलको ग्रसते हैं, पर्वतभी इच्छानुसार विचरते हैं ॥ २२५ ॥

राजा चमत्कृतः तस्मै शताश्वान् ददौ । ततो भांडारिको लिखति—

राजाने चमत्कृत होकर उसको सौ घोडे दिये। तब खजानचीने यह लिखा—

क्रीडोद्याने नरेंद्रेण शतमश्वा मनोजवाः ॥
प्रदत्ताः कामदेवाय सहकारतरोरधः ॥ २२६ ॥

राजाने बगीचेमें आमके वृक्षके नीचे मनकी समान वेगवाले सौ घोडे कामदेव कविको दिये ॥ २२६ ॥

ततः कदाचिद्भोजो विचारयति स्म । मत्सदृशो वदान्यः कोऽपि नास्तीति । तद्गर्वं विदित्वा मुख्यामात्यो विक्रमार्कस्य पुण्यपत्रं भोजाय प्रदर्शयामास । भोजस्तत्र पत्रे किंचित् प्रस्तावमपश्यत् । तथाहि विक्रमार्कः पिपासया प्राह ॥

फिर किसी समय राजा भोजने विचारा कि, मेरी समान दूसरा दाता नहीं है । प्रधान मंत्रीने राजा भोजका ऐसा गर्व जानकर राजा विक्रमादित्यका पुण्यपत्र भोजको दिखाया । भोजने उस पत्रमें कुछ प्रस्ताव देखा । वह यह है कि, विक्रमार्कने प्यासयुक्त होकर कहा ।

स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं ।
पुत्रालिंगनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसंजल्पवत् ॥
एलोशीरलवंगचंदनलसत्कर्पूरकस्तूरिका- ।
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम् ॥ २२७ ॥

सज्जनके चित्तकी समान स्वच्छ, दीनकी व्यथाकी समान लघु, पुत्रके आलिङ्गनकी समान शीतल, बालकुमारके वचनकी समान मधुर, इलायची, खस, लौंग, चन्दनसे शोभित, कपूर, कस्तूरी, मालती, पाटलिका और केतकीसे सुगंधित पानी लाओ ॥ २२७ ॥

ततो मागधः प्राह ॥

तब मागधने कहा ।

वक्त्रांभोजं सरस्वत्यभिवसति सदा शोण एवाधरस्ते ।
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ॥

वाहिन्यः पार्श्वमेताः कथमपि भवतो नैव मुंचंत्यभीक्ष्णं ।
स्वच्छे चित्ते कुतोऽभूत् कथय नरपते तेऽम्बुपानाभिलाषः॥२२८॥

हे नरपते ! तुम्हारे मुखरूपी कमलमें सदा सरस्वती वसती हैं, शोण नद-रूपी तुम्हारे होंठ हैं, तुम्हारी दहनी भुजा श्रीरामचन्द्रजीके पराक्रमको स्मरण करानेमें चतुर सागररूप है, पसवाडेमें वाहिनी सेना अथवा नदी निरन्तर रहती है सो हे राजन् ! स्वच्छ चित्तके होनेपर जल पीनेकी अभिलाषा तुम्हें क्यों हुई ? ॥ २२८ ॥

ततो विक्रमार्कः प्राह तथाहि ॥

तब विक्रमार्कने कहा यह ठीक है ।

अष्टौ हाटककोट्यस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः ।
पंचाशन्मधुगंधमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिंधुराः ॥
अश्वानामयुतं प्रपंचचतुरं वारांगनानां शतं ।
दत्तं पांड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायार्प्यताम् ॥ २२९ ॥

आठ करोड सुवर्ण, तिरानवे तोले मोती, मदमाते क्रोधपूर्ण पचास हाथी, दश हजार घोडे और विलासिनी सौ वेश्यायें दहेजमें विक्रमादित्यने दिया है सो वैतालिकके लिये अर्पण करो ॥ २२९ ॥

ततो भोजः प्रथमत एव अद्भुतं विक्रमार्कचरित्रं दृष्ट्वा निजगर्वं तत्याज । ततः कदाचिद्धारानगरे रात्रौ विचरन् राजा कंचन देवालये शीतालुं ब्राह्मणमित्थं पठंतमवलोक्य स्थितः ॥

तब भोजने पूर्व होनेवाले विक्रमादित्यका अद्भुत चरित्र देखकर अपने गर्वको त्याग दिया । फिर किसी दिन धारानगरीमें रातमें विचरते हुए राजा भोज देवस्थानमें शीतसे व्याकुल ब्राह्मणको पढते हुए देख स्थित होगये ।

शीतेनाध्युषितस्य माघजलवच्चिंतार्णवे मज्जतः ।
शांताग्नेः स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम ॥

निद्रा काप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता ।
सत्पात्रप्रतिपादितेव कमला नो हीयते शर्वरी ॥ २३० ॥

माघमासके जलकी समान जाडेसे व्याप्त चिन्तारूपी सागरमें डूबते, शान्त अग्निवाले, कम्पायमान होठवाले, अग्निको धमनेवाले, क्षुधासे सूखे पेटवाले मेरी निद्रा त्यागी हुई स्त्रीकी समान छोडकर दूर चली गई । जैसे सत्पात्रकी संचित की हुई लक्ष्मी क्षीण नहीं होतीहै त्योंही रात्रि क्षीण नहीं होती ॥ २३० ॥

इति श्रुत्वा राजा प्रातस्तमाहूय पप्रच्छ । विप्र ! पूर्वेद्यू रात्रौ त्वया दारुणः शीतभारः कथं सोढः ? विप्र आह—

यह सुन राजाने प्रातः उसको बुलाकर पूंछा कि, हे विप्र ! कल रात्रिको तुमने दारुण शीत कैसे सहा ? तब ब्राह्मणने कहा—

रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः संध्ययोर्द्वयोः ॥
एवं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः ॥ २३१ ॥

रात्रिमें घुटनेके बीच शिर रखके, दिनमें सूर्यकी धूपमें बैठकर और संध्यासमय अग्निको तापकर मैंने जाडा बिताया ॥ २३१ ॥

राजा तस्मै सुवर्णकलशत्रयं प्रादात् । ततः कवी राजानं स्तौति ॥

राजाने उस ब्राह्मणको तीन सुवर्णके कलश दिये । फिर कविने राजाकी स्तुति की ।

धारयित्वा त्वयात्मानं महात्यागधनायुषा ॥
मोचिता बलिकर्णाद्याः स्वयशोगुप्तवर्ष्मिणः ॥ २३२ ॥

हे राजन् ! आपने शरीर धारण करके अपने यशके द्वारा बलि, कर्ण आदिकोंके महद्दानीपनेको छिपा दिया ॥ २३२ ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ । एकदा क्रीडोद्यानपाल आगत्य एक-मिक्षुदंडं राज्ञः पुरो मुमोच । तं राजा करे गृहीतवान् । ततो

मयूरकविः नितांतं परिचयवशात् आत्मनि राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि निधाय इक्षुमिषेणाह ॥

राजाने इसको एक लाख रुपये दिये । एक समय बागवानने आकर ईख (गन्ना) राजाके सामने रक्खा, उसे राजाने हाथमें उठा लिया । तब मयूरकविने प्रतिदिन आनेजानेसे राजाके तिरस्कारको मनमें रख गन्नेके बहाने कहा ।

कांतोऽसि नित्यमधुरोऽसि रसाकुलोऽसि किं चासि पंच-
शरकार्मुकमद्वितीयम् ॥ इक्षो तवास्ति सकलं परमेकमूनं
यत्सेवितो भजसि नीरसतां क्रमेण ॥ २३३ ॥

हे ईख (गन्ने) ! तू सुन्दर है, सदा मधुर है, रससे पूर्ण है, कामदेवका धनुष है और तू सर्वगुणयुक्त है परन्तु एकही बातकी कमी है कि, जिससे निरन्तर कालसे सेवन करनेपर नीरसताको प्राप्त होताहै अर्थात् ज्यों ज्यों चूसै त्यों त्यों रस कम होता जाता है ॥ २३३ ॥

राजा कविहृदयं ज्ञात्वा मयूरं संमानितवान् ।

राजाने कविके हृदयको जान मयूरका सन्मान किया ।

ततः कदाचिद्रात्रौ सौधोपरि क्रीडापरो राजा शशांकमालोक्य प्राह—

फिर किसी दिन राजा क्रीडामें लीन होकर महलमें सो रहा था सो चन्द्रमाको देखकर कहने लगा--

यदेतच्चंद्रांतर्जलदलवलीलां वितनुते ।
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ॥

यह जो चन्द्रमाके बीचमें मेघके लेशकी लीला दृष्टि आती है इसको मनुष्य शशक कहते हैं सो मुझे प्रतीत नहीं होता ॥

ततश्चाधोभूमौ सौधांतः प्रविष्टः कश्चिच्चोर आह—

फिर महलोंमें नीचे पृथिवीपरसे किसी चोरने कहा--

अहं त्विंदुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रांततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकणकलंकांकिततनुम् ॥ २३४ ॥

मैं तो यह मानताहूं कि, आपके शत्रुओंके विरहसे दुःखी उनकी स्त्रियोंके कटाक्षसे वज्रपातरूप व्रणके लेश द्वारा चंद्रमाका शरीर कलङ्कसे युक्त है॥ २३४॥

राजा तत् श्रुत्वा प्राह। अहो महाभाग! कस्त्वमर्धरात्रे कोशगृहमध्ये तिष्ठसीति। स आह। देव! अभयं नो देहीति। राजा तथेति। ततो राजानं स चोरः प्रणम्य स्ववृत्तांतमकथयत्। तुष्टो राजा चोराय दश कोटीः सुवर्णस्याष्टोन्मत्तान् गजेंद्रांश्च ददौ।

राजा सुनकर बोला, बडा आश्चर्य है। हे महाभाग! तुम कौन हो? जो आधी रातके समय खजानेमें घुसआये। उसने कहा, हे देव! मेरा अपराध क्षमा करो। राजाने कहा, क्षमा किया। तब चोरने प्रणाम करके अपना समस्त वृत्तान्त राजासे कहा—तो प्रसन्न होकर राजाने चोरको दश करोड सुवर्णकी मोहरें और आठ मदमाते हाथी दिये।

ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति॥

फिर खजानचीने धर्मपत्रमें लिखा।

तदस्मै चोराय प्रतिनिहतमृत्युप्रतिभिये।
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते॥
सुवर्णानां कोटीर्दश दशनकोटिक्षतगिरीन्।
गजेंद्रानप्यष्टौ मदमुदितकूजन्मधुलिहः॥ २३५॥

मृत्युके समान भय दूर करके चोरके लिये श्लोकके पिछले दो चरण बनानेपर महाराज (भोज) ने प्रसन्न होकर दश करोड सुवर्णकी मोहरें और अपने दांतोंसे पर्वतोंके अग्रभागको चूर्ण करनेवाले मदमाती भ्रमरोंसे गुञ्जारित मदसे घूमते हुए आठ हाथी दिये॥ २३५॥

ततः कदाचित् द्वारपाल आगत्य प्राह। देव! कौपीनावशेषो

विद्वान् द्वारि वर्तत इति । राजा प्रवेशयेति । ततः प्रविष्टस्स कविर्भोजमालोक्य मे दारिद्रनाशो भविष्यतीति मत्वा तुष्टो हर्षाश्रूणि मुमोच । राजा तमालोक्य प्राह । कवे ! किं रोदिषि इति । ततः कविराह । राजन् ! आकर्णय मद्गृहस्थितिम् ॥

फिर किसी दिन द्वारपालने आकर कहा--हे देव ! एक कौपीनधारी विद्वान् द्वारे खडा है । राजाने कहा--ले आओ । तव भीतर जाकर कविने भोजको देख, दारिद्रता जाती रहेगी यह जान आनन्दके आंसू छोडे । राजाने उसे देख कहा कि, हे कवे ! क्यों रोते हो ? तव कविने कहा--हे राजन् ! मेरे घरकी दशा सुनो--

अये लाजा उच्चैः पथि वचनमाकर्ण्य गृहिणी ।
शिशोः कर्णौ यत्नात्सुपिहितवती दीनवदना ॥
मयि क्षीणोपाये यदकृत दृशावश्रुबहुले ।
तदंतः शल्यं मे त्वमसि पुनरुद्धर्तुमुचितः ॥ २३६ ॥

खीलें लो २ मार्गमें ऐसे ऊँचे शब्दको सुन मेरी स्त्री दीनभावसे यत्नके साथ वालकोंके कानोंको ढक देती है, और मेरे घरमें क्षीण उपाय जानकर नेत्रोंमें आंसू वहाती रहती है इस दुश्यसे मेरे हृदयमें शल्यसा चुभा रहता है सो उसको आप निकाल सकते हैं ॥ २३६ ॥

राजा शिव शिव कृष्ण कृष्णेत्युदीरयन् प्रत्यक्षरलक्षं दत्वा प्राह । सुकवे ! त्वरितं गच्छ गेहं त्वद्गृहिणी खिन्नाभूदिति । ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रांतो राजा कस्यचिन्महावृक्षस्य छायामाश्रित्य तिष्ठति स्म । तत्र शांभवदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं वृक्षमिषेणाह ॥

राजाने शिव २ कृष्ण २ कहकर एक २ अक्षरपर एक २ लाख रुपये देकर कहा--हे सुकवे ! शीघ्रही घरको पधारिये स्त्री बडी दुःखी होगी । एक

दिन राजा शिकार करताहुआ थककर किसी विशाल वृक्षकी छायामें बैठगया वहां शाम्भवदेव नामक किसी कविने आकर वृक्षके मिषसे राजाको कहा ।

आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयोल्लासैस्त्वचा तापसाः ।
पुष्पैः षट्चरणाः फलैः शकुनयो घर्मार्दिताश्छायया ॥
स्कंधैर्गंधगजास्त्वयैव विहिताः सर्वे कृतार्थास्ततः ।
त्वं विश्वोपकृतिक्षमोऽसि भवता भग्नापदोऽन्ये द्रुमाः॥२३७॥

सुगन्धिसे पवन, सुरीली लयसे मृग, छालोंसे तपसी, फूलोंसे भ्रमर, छायासे मार्गद्वारा थकित पीडित और स्कन्धोंसे गंधगज कृतार्थ होते हैं, अतएव सबके उपकारके लिये तुम समर्थ हो, और वृक्ष तुमसे रक्षित रह सके हैं ॥२३७॥

किंच—अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णे सुवमति मधुधाराम् ॥ अनधिगतपरिमलापि च हरति दृशं मालतीमाला ॥ २३८ ॥

और कहा है । उत्तम कविकी कविता अज्ञातगुणोंके भी कानोंको मधुर रसमयी धारासे तृप्त करती है, जैसे सुगन्धरहित मालतीकी माला नेत्रोंको वशीभूत करती है ॥ २३८ ॥

ताभ्यां श्लोकाभ्यां चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । अन्यदा श्रीभोजः श्रीमहेश्वरं नंतुं शिवालयमभ्यगात् । तदा कोऽपि ब्राह्मणो राजानं शिवसान्निधौ प्राह ॥

उन श्लोकोंसे चमत्कृत होकर राजाने प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । एक समय राजा भोज महादेवजीको प्रणाम करनेके लिये शिवालयमें गये । तब किसी ब्राह्मणने महादेवजीके पास कहा ।

अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं ।
देवेत्थं जगतीतले पुरहराभावे समुन्मीलति ॥
गंगा सागरमंबरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं ।
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां तु भिक्षाटनम् ॥२३९॥

हे देव ! शिवजीका आधा शरीर विष्णुभगवान्‌ने लेलिया और आधा पार्वतीजीने, जब पृथ्वीपर शिवजी अंगहीन हुए तो गंगाजी सागरको चली गई, चन्द्रमाकी कला आकाशको, शेषजी रसातलको, सर्वज्ञता आपको और भिक्षाटन मुझे प्राप्त हुआ ॥ २३९ ॥

राजा अक्षरलक्षं ददौ। ततः कदाचिद् द्वारपाल आगत्य प्राह। देव! कोऽपि विद्वान् द्वारि तिष्ठतीति। राजा प्रवेशयेति प्राह। ततः प्रविष्टो विद्वान् पठति ॥

राजाने प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये। फिर किसी दिन द्वारपालने आकर कहा—हे देव ! कोई विद्वान् द्वारे खडा है। राजाने कहा भेजदो। तब सभामें जाकर विद्वान्‌ने कहा।

क्षणमप्यनुगृह्णाति यं दृष्टिस्तेऽनुरागिणी ॥
ईर्ष्ययेव त्यजत्याशु तं नरेंद्र दरिद्रता ॥ २४० ॥

हे नरेन्द्र ! आपकी स्नेहमयी दृष्टि जिसपर क्षणमात्रभी अनुग्रह करती है उसे दरिद्रता ईर्षाकी समान शीघ्रही त्याग देती है ॥ २४० ॥

राजा लक्षं ददौ। पुनरपि पठति कविः ॥

राजाने उसे लाख रुपये दिये। फिरभी कविने पढा।

केचिन्मूलाकुलाशाः कतिचिदपि पुनः स्कंधसंबंधभाजः।
छायां केचित्प्रपन्नाः प्रपदमपि परे पल्लवानुन्नयंति ॥
अन्ये पुष्पाणि पाणौ दधति तदपरे गंधमात्रस्य पात्रं।
वाग्वल्ल्याः किंतु मूढाः फलमहह नहि द्रष्टुमप्युत्सहंते २४१॥

हे देव ! कोई मनुष्य वृक्षके मूलकी आशा करते हैं, कोई स्कंधोंकी, कोई छायाकी, कोई जडकी, कोई कोमल पत्तियोंकी आशा लगाते हैं, कोई फूलोंको हाथमें लेते हैं और कोई वृक्षकी गंधको ग्रहण करते हैं परन्तु आश्चर्य यह है कि, मूढ मनुष्य वाणीरूपी वेलके फल देखनेकी भी लालसा नहीं करते हैं ॥२४१॥

एतदाकर्ण्य बाणः प्राह ॥

यह सुनकर बाण कविने कहा ।

परिच्छिन्नः स्वादोऽमृतगुडमधुक्षौद्रपयसां ।
कदाचिच्चाभ्यासाद्व्रजति ननु वैरस्यमधिकम् ॥
प्रियाबिंबोष्ठे वा रुचिरकविवाक्येऽप्यनवधि- ।
र्नवानंदः कोऽपि स्फुरति तु रसोऽसौ निरुपमः ॥ २४२ ॥

अमृत, गुड, शहत, मधु और दूधका स्वाद अल्पही है कारण कि, कभी घट जाता है और कभी अधिक सेवन करनेसे विरस हो जाता है लेकिन प्यारीके अधरामृत और श्रेष्ठ कविके पदमें अतुल आनन्द और अनुपम रस उदय होता है जिसका स्वाद निराला है ॥ २४२ ॥

ततो राजा लक्षं दत्तवान् । ततः कदाचित् सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे द्वारपाल आगत्य प्राह । देव ! वाराणसीदेशादागतः कोऽपि भवभूतिर्नाम कविर्द्वारि तिष्ठतीति । राजा प्राह प्रवेशयेति । ततः प्रविष्टः सोऽपि सभामगात् । ततः सभ्याः सर्वे तदागमनेन तुष्टा अभवन् । राजा च भवभूतिं प्रेक्ष्य प्रणमति स्म । स च स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टो भवभूतिः प्राह । देव !

तब राजाने लाख रुपये दिये । फिर किसी दिन राजासिंहानपर बैठे हुए भोजसे द्वारपालने आकर कहा--हे देव ! कोई भवभूतिनामक विद्वान् काशीधामसे आकर द्वारे खडा है । राजाने कहा--अच्छा भेज दो । तब भवभूति सभामें प्राप्त हुए तो समस्त पण्डितमण्डली सभाकी उन्हें देख प्रसन्न हुई । राजाने भवभूतिको देखकर प्रणाम किया । भवभूतिने ' स्वस्ति ' कहकर राजाकी आज्ञा पाय बैठकर कहा--देव !

नानीयंते मधुनि मधुपाः पारिजातप्रसूनै- ।
र्नाभ्यर्थ्यंते तुहिनरुचिनश्चंद्रिकायां चकोराः ॥

अस्मद्वाङ्माधुरिमधुरमापद्य पूर्वावतारां ।
सोल्लासाः स्युः स्वयमिह बुधाः किं मुधाभ्यर्थनाभिः ॥२४३॥

शहत पर मक्खियोंको कौन बुलाने जाता है, चन्द्रकी चाँदनीमें चकोरोंको कल्पवृक्षके फूलोंसे कौन आवाहन करता है । वरन् यह सब स्वयंही आते हैं इसी भाँति मेरी वाणीकी मधुरतासे इस सभामें पूर्वके परिचित पण्डितजन स्वयं प्रसन्न होजायँगे अतएव वृथा प्रार्थना करनेसे क्या है ॥ २४३ ॥

नास्माकं शिबिका न कापि कटकाद्यालंक्रिया सत्क्रिया ।
नोत्तुंगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवांवरं सुंदरम् ॥
किंतु क्ष्मातलवर्त्यशेषविदुषां साहित्यविद्याजुषां ।
चेतस्तोषकरी शिरोगतिकरी विद्यानवद्यास्ति नः ॥ २४४ ॥

हे देव ! न हमारे पास पालकी है, न गाडी है, न आभूषण हैं, न सत्कार है, न ऊँचा घोडा है, न सेवक है और न सुन्दर वस्त्रही हैं किन्तु साहित्यविद्याको सेवन करनेवाले पृथिवीके निवासी समस्त विद्वानोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली मुकुटस्वरूपिणी निर्दोष श्रेष्ठ विद्या है ॥ २४४ ॥

इत्याकर्ण्य बाणपंडितपुत्रः प्राह ।
आः पाप ! धाराधीशसभायामहंकारं मा कृथाः ॥

यह सुनकर बाणपण्डितके पुत्रने कहा—बडे खेदकी बात है, हे पापी ! राजा भोजकी सभामें अहंकार मत करो ।

निःश्वासोऽपि न निर्याति बाणे हृदयवर्त्मनि ॥
किं पुनः प्रकटाटोपपदबद्धा सरस्वती ॥ २४५ ॥

जब बाण हृदयमें प्राप्त होजाता है तो ऊर्ध्व श्वासभी नहीं निकलता है फिर सामने पाखण्डीकी भांति आडम्बरयुक्त कविता क्या हो सक्ती है ॥२४५॥

ततो भवभूतिः पराभवमसहमानः प्राह ॥

तब भवभूति तिरस्कारको न सहकर बोला ।

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता ।
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा ॥
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ ।
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥२४६॥

बडे खेदकी बात है कि, कुछ पद कहींसे खींचकर बोलनेवाला वाणीको वशीभूत रखनेवाले कविके साथ ईर्षा करता है। इस कलियुगमें घटको बनानेवाला कुम्हार त्रिलोकी रचनेवाले ब्रह्माजीके साथ अवश्य कलह करेगा ॥ २४६ ॥

पुनराह—

फिर कहा—

कालिदासकवेर्वाणी कदाचिन्मद्गिरा सह ॥
कलयत्यद्य साम्यं चेद्भीता भीता पदेपदे ॥ २४७ ॥

कालिदास कविकी वाणी किसी समय मेरी वाणीमें मिल जाती है, सो वहभी अब पद २ में भयभीतकी समान मिलती है ॥ २४७ ॥

ततः कालिदासः प्राह । सखे भवभूते ! महाकविरसि अत्र किमु वक्तव्यम् ॥

तब कालिदासने कहा—हे मित्र भवभूति ! तुम निःसन्देह महाकवि हो ।

एषा धारेन्द्रपरिषन्महापंडितमंडिता ॥
आवयोरंतरं वेत्ति राजा वा शिवसन्निभः ॥ २४८ ॥

महापण्डितोंसे भूषित यह राजा भोजकी सभा वा शिवजीके समान राजा हमारे तुम्हारे अन्तरको जानते हैं ॥ २४८ ॥

तच्छ्रुत्वा राजा प्राह । युवाभ्यां रत्यंतो वर्णनीय इति । भवभूतिः—

तिसको सुन राजाने कहा—तुम मैथुनके अन्तको वर्णन करो । भवभूतिने कहा—

मुक्ताभूषणमिंदुबिंबमजनि व्याकीर्णतारं नभः ।
स्मारं चापमपेतचापलमभूदिंदीवरे मुद्रिते ॥
व्यालीनं कलकण्ठमंदरणितं मंदानिलैर्मंदितं ।
निष्पंदस्तबका च चंपकलता साभून्न जाने ततः ॥ २४९ ॥

चन्द्रबिंब (मुख) अलंकारोंसे हीन होगया, इधर उधर नक्षत्रोंके बिखरनेसे (करधनीके घुंघुरू छिटकनेसे) आकाश (कमर) की दशा मन्द हुई, कामदेवका धनुष (भृकुटी) अचल होगई, नील कमल (नेत्र) मुंदगये, सुन्दर कंठका शब्द बंद होगया, मंद पवन धीमी पडगई (अर्थात् श्वास चलने लगा), सुवर्ण चंपेकी बेल (युवती) अचल गुच्छों (स्तनों) से युक्त होगई फिर न जाने क्या हुआ ? ॥ २४९ ॥

ततः कालिदासः प्राह ॥

फिर कालिदासने कहा ।

स्विन्नं मंडलमैन्दवं विलुलितं स्रग्भारनद्धं तमः ।
प्रागेव प्रथमानकैतकशिखालीलायितं सुस्मितम् ॥
शांतं कुंडलतांडवं कुवलयद्वंद्वं तिरोमीलितं ।
वीतं विद्रुमसीत्कृतं नहि ततो जाने किमासीदिति ॥ २५० ॥

चन्द्रमण्डल (मुख) पर पसीना आगया, इससे पहले फूलोंसे बंधे हुए अंधकार (केशपाश) खुलगये, स्मितने पहलेही केतकाग्रकी लीला की, कुंडलोंका हिलना रुक गया, दोनों नीलकमल (नेत्र) मुंदगये और मूंगोंका (होठोंका) सी सी शब्द जातारहा, फिर न जाने क्या हुआ ॥ २५० ॥

राजा कालिदासं प्राह—सुकवे ! भवभूतिना सह साम्यं तव न वक्तव्यम् । भवभूतिराह । देव ! किमिति वारयसि । राजा सर्वप्रकारेण कविरसि । ततो बाणः प्राह । राजन् भवभूतिः कविश्रेष्ठः कालिदासो वक्तव्यो वा । राजा—बाणकवे ! कालिदासः कविर्न

किंतु पार्वत्याः कश्चिदवनौ पुरुषावतार एव । ततो भवभूतिराह । देव ! किमत्र प्राशस्त्यं भवति । राजा प्राह भवभूते ! किमु वक्तव्यं प्राशस्त्यं कालिदासश्लोके यतः कैतकशिखालीलायितं सुस्मितमिति पठितम् । ततो भवभूतिराह । देव ! पक्षपातेन वदसीति । ततः कालिदासः प्राह । देव ! अपख्यातिर्मा भूत् भुवनेश्वरीदेवतालयं गत्वा तत्सन्निधौ तां पुरस्कृत्य घटे संशोधनीयं त्वया । ततो भोजः सर्वकविवृन्दवेदितः सन् भुवनेश्वरीदेवालयं प्राप्य तत्र तत्सन्निधौ भवभूतिहस्ते घटं दत्त्वा श्लोकद्वयं च तुल्यपत्रद्वये लिखित्वा तुलायां मुमोच । ततो भवभूतिभागे लघुत्वोद्धताम् ईषदुन्नतिं ज्ञात्वा देवी भक्तपराधीना सदसि तत्परिभवो मा भूदिति स्वावतंसकह्लारमकरंदं वामकरनखाग्रेण गृहीत्वा भवभूतिपत्रे चिक्षेप । ततः कालिदासः प्राह ॥

राजाने कालिदाससे कहा—हे सुकवे ! भवभूतिके साथ तुम्हारी बराबरी नहीं हो सक्ती । भवभूतिने कहा—हे देव ! ऐसा क्यों कहते हो ? राजा बोला—तुम सब प्रकारसे कवि हो । फिर बाणकविने कहा—हे राजन् ! जो भवभूति कवि है तो कालिदासको भी कहिये । राजाने कहा—हे बाणकवि ! कालिदास कवि नहीं है किन्तु पृथ्वीपर पार्वतीका कोई पुरुषरूपी अवतार है । तब भवभूतिने कहा—हे देव ! यहाँ क्या उत्तमता है । राजाने कहा—हे भवभूति ! उत्तमता क्या कहूं ? कालिदासके श्लोकमें जो "कैतकशिखालीलायितं सुस्मितम्" यह पद है सो श्रेष्ठ कविता है । तब भवभूतिने कहा हे देव ! पक्षपातसे कहते हो । तब कालिदासने कहा—हे देव ! किसीका तिरस्कार न हो अतएव भुवनेश्वरी देवीके भवनमें जाकर देवीके समीप कविताको रखकर तराजूसे परीक्षा करिये । तब भोजने सब कवियोंके कहनेसे भुवनेश्वरीदेवीके मंदिरमें जाय देवीके समीप भवभूतिके

हाथमें तराजू, दे दोनों श्लोक एकसे पत्रमें लिखकर तराजूके दो पल्लोंमें रक्खे । भवभूतिने तराजू उठाई तो भवभूतिका पत्र हल्केपनसे ऊपरको उठने लगा, यह देख भक्ताधीन देवीने विचारा कि सभामें मेरे भक्तका अपमान न हो जाय इसलिये निज कर्णभूषणकमलकी रेणुको बायें हाथद्वारा भवभूतिके पत्रपर गिराने लगीं, तब कालिदासने कहा—

अहो मे सौभाग्यं मम च भवभूतेश्च भणितं ।
घटायामारोप्य प्रतिफलति तस्यां लघिमनि ॥
गिरां देवी सद्यः श्रुतिकलितकह्लारकलिका- ।
मधूलीमाधुर्यं क्षिपति परिपूर्त्यै भगवती ॥ २५१ ॥

धन्य है मेरे सौभाग्यको जो मेरी और भवभूतिकी कविता तराजूमें रक्खी जानेपर जब भवभूतिकी कविता हल्की होनेसे ऊपरको उठने लगी तभी वाणियोंकी अधिष्ठातृदेवी अपने कर्णमें रक्खी कह्लारकलीकी धूलीको पूरा करनेके लिये भवभूतिके पत्रपर गेरने लगीं ॥ २५१ ॥

ततः कालिदासपादयोः पतति भवभूतिः । राजानं च विशेषज्ञं मनुते स्म । ततो राजा भवभूतिकवये शतमत्तगजान् ददौ । अन्यदा राजा धारानगरे रात्रावेकाकी विचरन् कांचन स्वैरिणीं संकेतं गच्छंतीं दृष्ट्वा पप्रच्छ । देवि ! का त्वमेकाकिनी मध्यरात्रे क्व गच्छसीति । ततश्चतुरा स्वैरिणी सा तं रात्रौ विचरंतं श्रीभोजं निश्चित्य प्राह ॥

तब भवभूति कालिदासके चरणोंमें गिरपडा और राजाकोभी विशेष जाननेवाला जाना । फिर राजाने भवभूतिको सौ मदमाते हाथी दिये । एक दिन राजाने धारानगरीमें इकले विचरते हुए किसी स्वैरिणी स्त्रीको संकेत स्थानपर जातीहुई देखकर पूछा कि, हे देवि ! तुम कौन हो ? और इकली आधी रातमें कहाँ जाती हो ? तब उस स्वैरिणी चतुरा स्त्रीने रात्रिमें विचरते हुए राजा भोजको निश्चित कर कहा ।

त्वत्तोऽपि विषमो राजन् विषमेषुः क्षमापते ॥
शासनं यस्य रुद्राद्या दासवन्मूर्ध्नि कुर्वते ॥ २५२ ॥

हे राजन् ! तुमसे प्रबल कामदेवका शासन है जिसकी आज्ञाको रुद्रादि देवगण दासकी समान अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥ २५२ ॥

ततस्तुष्टो राजा दोर्दंडादादाय अंगदं वलयं च तस्यै दत्तवान् । सा च यथास्थानं प्राप । ततो वर्त्मनि गच्छन् क्वचिद्गृहे एकाकिनीं रुदतीं नारीं दृष्ट्वा किमर्थमर्धरात्रे रोदिति किं दुःखमेतस्या इति विचारयितुमेकमंगरक्षकं प्राहिणोत् । ततोऽगरक्षकः पुनरागत्य प्राह । देव ! मया पृष्टा यदाह तच्छृणु ॥

तब प्रसन्न होकर राजाने अपनी भुजाओंमेंसे निकालकर बाजूबंद और कंकण उसको दिये । वह अपने स्थानको चली गई । पीछे मार्गमें विचरते हुए राजाने किसी घरमें अकेली रोती हुई स्त्रीको देखकर कहा यह क्या रात्रिमें रोरही है, इसे क्या दुःख है ? यह विचार अपने सेवकको भेजा, सेवकने आकर कहा-हे देव ! मेरे पूछनेपर उसने जो कहा उसको सुनो ।

वृद्धो मत्पतिरेष मंचकगतः स्थूणावशेषं गृहं ।
कालोऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ॥
यत्नात्संचिततैलबिंदुघटिका भग्नेति पर्याकुला ।
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥ २५३ ॥

यह मेरा बूढा पति पलंगपर पडा है, घरमें और कोई पुरुप नहीं है, इस वर्षाऋतुमें मेरे पुत्रका कुशल समाचारभी नहीं मिला, बडी सावधानीसे रखनेपरभी तेलकी कलसिया फूटगई इसलिये व्याकुल होकर सास गर्भके भारसे दुःखी अपनी पुत्रवधूको देखकर बहुत रो रही है ॥ २५३ ॥

ततः कृपावारिधिः क्षोणीपालस्तस्यै लक्षं ददौ । अन्यदा कोंकणदेशवासी विप्रो राज्ञे स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह ॥

तब कृपासागर राजाने उस स्त्रीको लाख रुपये दिये । एक समय कोंकणदेशवाला ब्राह्मण राजाको ' स्वस्ति ' कहकर बोला ।

शुक्तिद्वयपुटे भोज यशोब्धौ तव रोदसी ॥
मन्ये तदुद्भवं मुक्ताफलं शीतांशुमंडलम् ॥ २५४ ॥

हे राजा भोज ! आपके यशरूपी सागरमें आकाश और भूमिरूपी जो दो सीपियोंका पुट है उसमें उत्पन्न चन्द्रमण्डलको मोती मानता हूं ॥२५४॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ । अन्यदा काश्मीरदेशात्कोऽपि कौपीनावशेषो राजनिकटस्थकवीन् कनकमाणिक्यपट्टदुकूलालंकृतान् आलोक्य राजानं प्राह ॥

राजाने उसको लाख रुपये दिये । एक समय कौपीनधारी किसी विद्वान्‌ने काश्मीरदेशसे आकर सुवर्ण, माणिक, पाट, रेशमसे भूषित राजाके पास कवियोंको देखकर कहा ।

नो पाणी वरकंकणक्कणयुतौ नो कर्णयोः कुंडले ।
क्षुभ्यत्क्षीरधिदुग्धमुग्धमहसी नो वाससी भूषणम् ॥
दंतस्तंभविकासिका न शिबिका नाश्वोऽपि विश्वोन्नतो ।
राजन्राजसभासु भाषितकलाकौशल्यमेवास्ति नः ॥ २५५॥

हे राजन् ! हमारे हाथोंमें श्रेष्ठ शब्दवाले कंकण नहीं हैं, कानोंमें कुण्डल नहीं हैं, क्षीरसागरके समान श्वेत वस्त्र नहीं हैं, हाथीदांतकी समान प्रकाशवाली पालकी नहीं है और ऊंचा घोडा नहीं है परन्तु राजसभामें कहने योग्य केवल कविताका कलाकौशल हमारे पास है ॥ २५५ ॥

ततस्तस्मै राजा लक्षं ददौ । अन्यदा राजा रात्रौ चंद्रमण्डलं दृष्ट्वा तदंतःस्थकलंकं वर्णयति स्म ॥

राजाने उसे लाख रुपये दिये । एक समय राजाने रात्रिमें चन्द्रमंडलको देख उसमें स्थित कलंकका वर्णन किया ।

अंकं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे ।
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन्परे ॥

चन्द्रमंडलमें कोई कलङ्ककी शङ्का करते हैं, कोई समुद्रकी कीच मानते हैं, कोई सारङ्ग कहते हैं और कोई पृथिवीकी छाया मानते हैं ॥

इति राजा पूर्वार्धं लिखित्वा कालिदासहस्ते ददौ । ततः स तस्मिन्नेव क्षणे उत्तरार्धं लिखति कविः ॥

इस भाँति पूर्वार्द्ध लिखकर कालिदासके हाथमें दिया । तब कालिदासने उसी समय उत्तरार्द्ध लिख दिया ।

इंदौ यद्दलितेंद्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते ।
तत्सांद्रं निशि पीतमंधतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥ २५६ ॥

चन्द्रमामें जो दलित इन्द्रनील मणिकी समान श्यामता दृष्टि आती है उसके विषयमें मैं यह कहता हूं कि, चन्द्रमाने रात्रिका जो घोर अन्धकार पान किया वही कोखमें भान होता है ॥ २५६ ॥

राजा प्रत्यक्षरं लक्षमुत्तरार्द्धस्य दत्तवान् । ततो राजा कालिदासकवितापद्धतिं वीक्ष्य चमत्कृतः पुनराह । सखे ! अकलंकं चंद्रमसं व्यावर्णयेति । ततः कविः पठति ॥

राजाने उत्तरार्द्धके प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । फिर राजाने कालिदासकी कविताशैलीको देख चमत्कृत होकर कहा हे सखे ! निष्कलङ्क चन्द्रमाका वर्णन करो । तब कविने पढा ।

लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां ।
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम् ॥
पिंडीभूतं हरस्य स्मितममरधुनीपुंडरीकं मृगांकः[1] ।
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोलकस्य २५७॥

1 मृगांको ज्योत्स्नापीयूषवापीं जनयति निकरस्तारकागोलकस्य ॥ इति तैलंगपुस्तकपाठो युक्त इति भाति ।

यह चन्द्र लक्ष्मीकी क्रीडाका सरोवर है, रतिका श्वेत भवन है, दिग्रूपा बहुओंका दर्पण है, श्यामावेलका फूल है, त्रिलोकीको जीतनेवाले कामदेवका छत्र है, शिवजीका पिण्डीभूत गंदहास है, आकाशगंगाका कमल है, अपनी किरणजालको सुधाकी बावडी है और तारागोलकका श्वेत बैल है इस भांति विचित्ररूपसे चन्द्रमाकी श्रेष्ठता कही है ॥ २५७ ॥

राजा पुनः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। एकदा कश्चिद्दूरदेशादागतो वीणाकविराह ॥

राजाने फिर प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । एक समय किसी दूरदेशसे आकर वीणाकविने कहा ।

तर्कव्याकरणाध्वनीनधिषणो नाहं न साहित्यवि- ।
न्नो जानामि विचित्रकाव्यरचनाचातुर्य्यमत्यद्भुतम् ॥
देवी कापि विरिंचिवल्लभसुता पाणिस्थवीणाकल- ।
क्वाणाभिन्नरवं तथापि किमपि ब्रूते मुखस्था मम ॥ २५८ ॥

न्याय और व्याकरणसे मजी हुई मेरी बुद्धि नहीं है, न मैं साहित्यको जानता हूँ और न विचित्र काव्यको कह सक्ता हूँ । परन्तु कोई ब्रह्माकी प्यारी पुत्री देवी (सरस्वती) मेरे मुखमें विराजमान है तो भी वह हाथमें होनेसे वीणाके कल (मनोहर) शब्दकी समान शब्द कहती है ॥ २५८ ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ । बाणस्तस्य सुललितप्रबंधं श्रुत्वा प्राह । देव !

राजाने उसको लाख रुपये दिये । बाण कविने उसके सुललित प्रबंधको सुनकर कहा—हे देव !

मातंगीमिव माधुरीं ध्वनिविदो नैव स्पृशंत्युत्तमां ।
व्युत्पत्तिं कुलकन्यकामिव रसोन्मत्ता न पश्यन्त्यमी ॥
कस्तूरीघनसारसौरभसुहृद्व्युत्पत्तिमाधुर्ययो- ।
र्योगः कर्णरसायनं सुकृतिनः कस्यापि संपद्यते ॥ २५९ ॥

ध्वनिके ज्ञाता इस कवितामें मदोन्मत्त हथिनीकी समान माधुरी ध्वनिको नहीं स्पर्श करते हैं, यह रसोले कविभी कुलीन कन्याकी भांति उत्तम व्युत्पत्तिको नहीं देखतेहैं। कस्तूरी और कपूरकी समान गन्धयुक्त एवं कानोंमें रसायनरूपी व्युत्पत्ति और माधुरीका जो संयोग है उसे कानोंको रसायनरूपी कहा है तो वह यहां किसी सुकृतिको प्राप्त होता है ॥ २५९ ॥

अन्यदा राजा सीतां प्रातः प्राह। देवि! प्रभातं व्यावर्णयेति। सीता प्राह ॥

एक दिन राजाने सीतासे प्रातःकाल कहा कि हे देवि! प्रभातका वर्णन करो। सीताने कहा।

विरलविरलाः स्थूलास्ताराः कलाविव सज्जना।
मन इव मुनेः सर्वत्रैव प्रसन्नमभून्नभः ॥
अपसरति च ध्वांतं चित्तात्सतामिव दुर्जनो।
व्रजति च निशा क्षिप्रं लक्ष्मीर्निरुद्यमना इव ॥ २६० ॥

कलियुगमें सज्जनकी समान एकाध स्थूल तारा दृष्टि आई, मुनिमनकी समान आकाश प्रसंन्न हो गया, सत्पुरुषोंके चित्तसे दुर्जनकी समान अंधकार दूर होगया। वैसेही निरुद्यमोंकी लक्ष्मीकी समान रात्रि बीत गई ॥ २६० ॥

राजा लक्षं दत्त्वा कालिदासं प्राह। सखे सुकवे! त्वमपि प्रभातं व्यावर्णयेति। कालिदासः ॥

राजाने उसे लाख रुपये देकर कालिदाससे कहा। हे सखे! हे सुकवे! आपभी प्रभातका वर्णन करिये। तो कालिदासने कहा।

अभूत्पिंगा प्राची रसपतिरिव प्राश्य कनकं।
गतच्छायश्चंद्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि ॥
क्षणात्क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपरा।
न दीपा राजंते विनयरहितानामिव गुणाः ॥ २६१ ॥

सुवर्णसे मिलनेपर पारा जैसे पीला पड जाताहै वैसेही पूर्वदिशा पीली हो गई, गँवारोंकी सभामें जैसे पण्डित शोभाहीन हो जाताहै वैसेही चन्द्रमा-शोभारहित हो गया। निरुद्यमी राजाके क्षीण होनेकी समान समस्त तारे क्षण कालमें क्षीण हो गये। विना विनयके जैसे गुण प्रकाशित नहीं होते वैसेही दीपक प्रकाशहीन हो गये॥ २६१॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। अन्यदा द्वारपाल आगत्य प्राह। देव! कापि मालाकारपत्नी द्वारि तिष्ठतीति। राजा प्रवेशयेति। ततः प्रवेशिता सा च नमस्कृत्य पठति॥

राजाने उनको एक २ अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये। एक दिन द्वारपालने आकर कहा। हे देव! कोई मालन द्वारे खडी है। राजाने कहा लिवा लाओ, तब उस मालनने सभामें आकर प्रणाम करके पढा।

समुन्नतघनस्तनस्तवकचुंबितुंबीफल-।
क्वणन्मधुरवीणया विबुधलोकलोलभ्रुवा॥
त्वदीयमुपगीयते हरकिरीटकोटिस्फुर-।
तुषारकरकंदलीकिरणपूरगौरं यशः॥ २६२॥

हे राजन्! उठे कठोर और गुच्छेवाले स्तनोंको जिसकी तूँवी चूमती है ऐसी मधुर शब्दवाली वीणाको छातीसे लगाय स्वर्गवासिनी स्त्रियां आपके यशको गाया करती हैं सो वह आपका यश शङ्करके मुंकुटमें अग्रभागपर विराजमान चन्द्रमाकी किरणोंकी समान पूर्ण स्वच्छ और श्वेत है॥ २६२॥

राजा अहो महती पदपद्धतिरिति तस्यै प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। अन्यदा रात्रौ राजा धारानगरे विचरन् कस्याचिद्गृहे कामपि कामिनीमुलूखलपरायणां ददर्श। राजा तां तरुणीं पूर्णचंद्राननां सुकुमारांगीं विलोक्य तत्करस्थं मुसलं प्राह। हे मुसल! एतस्याः करपल्लवस्पर्शेनापि त्वयि किसलयं नासीत् तर्हि सर्वथा काष्ठमेव त्वमिति। ततो राजा एकं चरणं पठति स्म॥

राजाने कहा अहा ! पदरचना बडी उत्तम है, यह विचारकर उसके प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । एक दिन धारानगरीमें विचरते हुए अन्न छांटती किसी स्त्रीको देखा । राजाने उस युवती चन्द्रवदनी और सुकुमारी कोमलाङ्गीको देख उसके हाथमें स्थित मूसलसे कहा—हे मूसल ! इस युवतीके करकमलोंको छूनेपरभी जो तू नहीं पसीजा तो पूर्णतया काष्ठहीका है । फिर राजाने एक चरण पढा ।

मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम् ।

हे मूसल ! जो तू उसी समय नहीं पसीजा ।

ततो राजा प्रातस्सभायां समागतं कालिदासं वीक्ष्य 'मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्' इति पठित्वा सुकवे त्वं चरणत्रयं पठेत्युवाच । ततः कालिदासः प्राह ॥

फिर राजाने प्रातःकाल सभामें कालिदासके आनेपर पूर्वोक्त चरण पढकर कहा कि, हे सुकवे ! तीन चरण तुम पढो । तब कालिदासने कहा ।

जगति विदितमेतत्काष्ठमेवासि नूनं ।
तदपि च किल सत्यं कानने वर्धितोऽसि ॥
नवकुवलयनेत्रापाणिसंगोत्सवेऽस्मिन् ।
मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम् ॥ २६३ ॥

हे मूसल ! यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि तू काठका है और वनमें बढाहै, फिर कमलनयनी स्त्रीके हाथमें इस उत्सवपर आतेही तू नहीं पसीजा ॥२६३॥

ततो राजा चरणत्रयस्य प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । अन्यदा राजा दीर्घकालं जलकेलिं विधाय परिश्रांतस्तत्तीरस्थवटविटपिच्छायायां निषण्णस्तत्र कश्चित्कविरागत्य प्राह ॥

फिर राजाने तीन चरणोंके प्रत्येक अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । एक समय राजा चिरकालतक जलक्रीडा करनेसे थककर सरोवरके किनारे वटवृक्षकी छायामें बैठगया । वहां किसी कविने आकर कहा ।

छन्नं सैन्यरजोभरेण भवतः श्रीभोजदेव क्षमा- ।
रक्षादक्षिण दाक्षिणक्षितपतिः प्रेक्ष्यांतरिक्षं क्षणात् ॥
निःशंको निरपत्रपो निरनुगो निर्बांधवो निःसुहृ- ।
न्निःस्त्रीको निरपत्यको निरनुजो निर्हाटको निर्गतः ॥२६४॥

हे भोजदेव ! हे क्षमा और रक्षामें दक्ष ! तुम्हारी सेनाकी रजके उडनेसे धूलसे आच्छादित आकाशको देख दक्षिणदेशका राजा क्षणकालमें निःशङ्क, लज्जाहीन, सेवकहीन, बांधवहीन, मित्रहीन, स्त्री, सन्तान, अनुज और धनहीन होकर बाहर निकलगया ॥ २६४ ॥

किंच—

और भी—

अकांडधृतमानसव्यवसितोत्सवैः सारसै- ।
रकांडपटुतांडवैरपि शिखंडिनां मंडलैः ॥
दिशः समवलोकिताः सरसनिर्भरप्रोल्लस- ।
द्भवत्पृथवरूथिनीरजनिभूरजःश्मामलाः ॥ २६५ ॥

विना अवसर मानसमें निश्चय कर उत्सवयुक्त सारसोंसे और विना अवसर सुन्दर नाँचनेवाले मोरोंके मंडलसे वीररससे उत्तेजित आपकी विशाल सेनासे उडी हुई धूलिसे रात्रिके समान श्यामवर्णवाली दिशायें जान पडती हैं ॥२६५॥

ततो राजा लक्षद्वयं ददौ। तदानीमेव तस्य शाखायामेकं काकं रटंतं प्रेक्ष्य कोकिलं चान्यशाखायां कूजंतं वीक्ष्य देवजयनामा कविराह ॥

फिर राजाने दो लाख रुपये दिये। उसी काल वटवृक्षकी शाखापर बोलते हुए काकको और दूसरी शाखापर बैठी बोलती हुई मैनाको देखकर देवजयनामक कविने कहा।

नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चंचुर्न वाच्यं वचो ।
नो लीला चतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव ॥
क्रूरक्रेंकृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिरन् ।
मूर्ख ध्वांक्ष न लज्जसेऽप्यसदृशं पांडित्यमुन्नाटयन् ॥२६६॥

हे काक ! न तो तेरे सुघरु चरण हैं, न सुन्दर चोंच है, न चतुर वचन बोलने आतेहैं, न मनोहारिणी लीलाहीं करता है और न तेरे दोनों पङ्खही सुन्दर हैं फिरभी क्रूर तुझे काँ काँ शब्दसे वाणी निकालते हुए मूर्खकी समान चतुराई दिखाते हुए लाज नहीं आती ॥ २६६ ॥

तत एनां देवजयकविना काकमिषेण विरचितां स्वगर्हणां मन्यमानस्तत्स्पर्धालुर्हरिशर्मा नाम कविः कोपेनेर्ष्यापूर्वं प्राह ॥

देवजयनामक कविके काकके मिषसे ऐसा कहनेपर हरिशर्माने अपनी निन्दा मान डाहके साथ क्रोधकर कहा—

तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः कोकिलैः सह संगतः ॥
केन व्याख्यायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥ २६७ ॥

रंग रूप और पंखोंसे कोयलके समान काले और कोयलके साथ समता रखनेवाले काकरूपी यदि आप न बोलते तो कैसे जाना जाता ॥ २६७ ॥

ततो राजा तयोर्हरिशर्मदेवजययोः अन्योन्यवैरं ज्ञात्वा मिथ आलिंगनादिवस्त्रालंकारादिदानेन च मित्रत्वं व्यधात् । अन्यदा राजा यानमारुह्य गच्छन् वर्त्मनि कंचित्तपोनिधिं दृष्ट्वा तं प्राह । भवादृशानां दर्शनं भाग्यायत्तम् । भवतां क्व स्थितिः । भोजनार्थं के वा प्रार्थ्यन्त इति । ततः स राजवचनमाकर्ण्य तपोनिधिराह ॥

फिर राजाने हरिशर्मा और देवजयमें वैर जान आपसमें भेंट कराय वस्त्रादि आभूषण दे मित्रता करादी । एक समय सवारीमें बैठकर मार्गमें जाते हुए किसी तपस्वीको देख राजाने कहा--आपके समान दर्शन भाग्यसे

होते हैं। आप कहां रहते हो और भोजनकी प्रार्थना किससे करतेहो ? तब तपोनिधिने राजाकी बात सुनकर कहा।

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां।
पयः स्थानेस्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ॥
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी।
सहंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥ २६८ ॥

हे राजन्! वनोंमें वृक्षोंके फल विनाही श्रमसे मिल जाते हैं, पवित्र नदियोंका जल ठंडा व मधुर स्थान २ पर मिलताहै, सुन्दर वेलें और फूल पत्तोंवाली कोमल शय्या है, तो भी धनियोंके द्वारे जो कृपण रहते हैं वह दुःखही सहते हैं ॥ २६८ ॥

राजन्! वयं कमपि नाभ्यर्थयामः न गृह्णीमश्चेति राजा तुष्टो नमति। तत उत्तरदेशादागत्य कश्चिद्राजानं स्वस्तीत्याह। तं च राजा पृच्छति। विद्वन्! कुत्र ते स्थितिरिति। विद्वानाह–

हे राजन्! हम किसीसे कुछ नहीं मांगते और न लेते हैं, यह सुन राजाने प्रसन्न होकर प्रणाम किया। फिर किसीने उत्तर देशसे आकर राजासे 'स्वस्ति' कहा। तब राजाने पूछा–हे विद्वन्! तुम्हारा कहां स्थान है? विद्वान्ने कहा–

यत्रांबु निंदत्यमृतमंत्यजाश्च सुरेश्वराः ॥
चिंतामणिश्च पाषाणास्तत्र नो वसतिः प्रभो ॥ २६९ ॥

जहाँका जल अमृतको लजाता है, जहाँके चाण्डाल इन्द्रकी बराबरी करते हैं और जहाँके पत्थर चिन्तामणिको लजाते हैं। हे प्रभो! मैं वहीं रहता हूं ॥ २६९ ॥

तदा राजा लक्षं दत्त्वा प्राह काशीदेशे का विशेषवार्तेति। स आह देव! इदानीं काचिदद्भुतवार्ता तत्र लोकमुखेन श्रुता, देवा दुःखेन दीना इति। राजा देवानां कुतो दुःखं विद्वन्। स चाह–

तब राजाने उसको लाख रुपये देकर कहा, काशीजीमें क्या विशेषता है ? यह बोला--देव ! वहाँपर जो मनुष्योंके मुखसे बात सुनी वह यह है कि, वहाँ देवता दुःखसे दीन होरहे हैं । राजाने कहा हे विद्वन् ! देवताओंको क्या दुःख है ? उसने कहा--

निवासः क्वाद्य नो दत्तो भोजेन कनकाचलः ॥
इति व्यग्रधियो देवा भोज वार्तेति नूतना ॥ २७० ॥

हे महाराज भोज ! यह नई बात है कि आपने जो सुमेरुपर्वतको दान कर दिया इससे देवगण व्याकुल होकर विचारते हैं कि, हम कहाँ जाकर रहें २७०॥

ततो राजा कुतूहलोक्त्या तुष्टः सन् तस्मै पुनर्लक्षं ददौ । ततो द्वारपालः प्राह । देव ! श्रीशैलादागतः कश्चिद्विद्वान् ब्रह्मचर्यनिष्ठो द्वारि वर्तत इति । राजा प्रवेशयेत्याह । तत आगत्य ब्रह्मचारी चिरं जीवेति वदति । राजा तं पृच्छति । ब्रह्मन् ! बाल्य एव कलिकालाननुरूपं किं नाम व्रतं ते अन्वहमुपवासेन कृशोऽसि । कस्यचिद् ब्राह्मणस्य कन्यां तुभ्यं दापयिष्यामि । त्वं चेद्गृहस्थधर्ममंगीकरिष्यसीति । ब्रह्मचारी प्राह । देव ! त्वमीश्वरस्त्वया किमसाध्यम् ॥

तब राजाने कुतूहलकी उक्तिसे प्रसन्न हो उसको फिर लाख रुपये दिये । पीछे द्वारपालने आकर कहा--हे देव ! श्रीशैलसे आकर कोई ब्रह्मचारी ब्राह्मण द्वारपर खडा है । राजाने कहा लिवा लाओ । तब ब्रह्मचारीने आकर ' चिरञ्जीव ' कहा । राजाने उससे पूछा कि हे ब्रह्मन् ! कलिकालमें आपको बाल्यावस्थामें कौनसा व्रत साध्य है क्योंकि प्रतिदिन आप उपवास करके कृश होरहे हैं । यदि तुम गृहस्थधर्म्मको स्वीकार करना चाहो तो मैं किसी ब्राह्मणकी कन्याको दिलादूं । ब्रह्मचारीने कहा--कि, हे देव ! आप ईश्वर हैं आपको सभी सामर्थ्य है ।

सारंगा सुहृदो गृहं गिरिगुहा शांतिः प्रिया गेहिनी ।
वृत्तिर्वल्लिलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः ॥

त्वद्ध्यानामृतपूरमग्नमनसां येषामियं निर्वृति-।
स्तेषामिंदुकलावतंसयमिनां मोक्षेऽपि नो न स्पृहा ॥ २७१ ॥

हे देव ! पशु पक्षी मेरे मित्र हैं, पर्वतकी गुफा घर है, शान्ति स्त्री है, अग्नि, फल और वेलसे आजीविका है, वृक्षोंकी छालें वस्त्र हैं, तुम्हारे ध्यानामृतसे जिनका मन पूर्ण प्रसन्न हुआ है वही आनंदमें हैं किन्तु चन्द्रकलाको मुकुटमें धारण करनेवाले शिवके नेम व्रतोंमें हमारी मोक्षमेंभी अभिलाषा नहीं है २७१

राजा उत्थाय पादयोः पतति आह च । ब्रह्मन् ! मया किं कर्त्तव्यमिति । स आह । देव ! वयं काशीं जिगमिषवस्तत एकं विधेहि । ये त्वत्सदने पंडितवराः तान् सर्वानपि सपत्नीकान् काशीं प्रति प्रेषय । ततोऽहं गोष्ठीतृप्तः काशीं गमिष्यामीति । राजा तथा चक्रे । ततः सर्वे पंडितवरास्तदाज्ञया प्रस्थिताः । कालिदास एको न गच्छति स्म तदा राजा कालिदासं प्राह । सुकवे ! त्वं कुतो न गतोऽसीति । ततः कालिदासो राजानं प्राह । देव ! सर्वज्ञोऽसि ॥

राजा उठकर चरणोंमें गिरगया और बोला हे ब्रह्मन् ! मैं क्या करूं ? उसने कहा हे देव ! मेरी काशी जानेकी अभिलाषा है, अतएव एक काम करो तुम्हारे यहाँ जो विद्वद्वर हैं उन्हे सस्त्रीक काशीजी भेजो तो मैं उनके साथ प्रेमसे काशी जाऊँगा । राजाने यही किया । समस्त पण्डित राजाकी आज्ञासे काशीजीको चलदिये । केवल कालिदास नहीं गये तब राजाने कालिदाससे कहा हे सुकवे ! तुम क्यों नहीं गये ? तो कालिदासने राजासे कहा हे देव ! आप तो सर्वज्ञ हैं ।

ते यांति तीर्थेषु बुधा ये शंभोर्दूरवर्त्तिनः ॥
यस्य गौरीश्वरश्चित्ते तीर्थं भोज परं हि सः ॥ २७२ ॥

हे भोज ! जो पण्डित शिवजीसे दूर रहते हैं वेही तीर्थोंमें जाते हैं और जिसके मनमें गौरीश्वर विराजमान हैं वह स्वयंही परम तीर्थ है ॥ २७२ ॥

ततो विद्वत्सु काशीं गतेषु राजा कदाचित्सभायां कालिदासं पृच्छति स्म। कालिदास! अद्य किमपि श्रुतं किं त्वयेति। स आह॥

पीछे विद्वान् काशीको चले गये तब एक दिन राजाने राजसभामें कालिदाससे पूछा--हे कालिदास ! आज आपने कुछ सुना है क्या ? कालिदासने कहा ।

मेरौ मंदरकंदरासु हिमवत्सानौ महेंद्राचले ।
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारभागेष्वपि ॥
सह्याद्रावपि तेषु तेषु बहुशो भोज श्रुतं ते मया ।
लोकालोकविचारचारणगणैरुद्गीयमानं यशः ॥ २७३ ॥

हे भोज ! सुमेरुमें, मंदराचलकी गुफाओंमें, हिमालयमें, महेन्द्राचलमें, कैलासकी शिलाओंमें, मलयाचलके प्राग्भारमें और सह्याद्रिमेंभी आने जानेवाले चारणोंके मुखसे तुम्हारे यशका गान सुना है ॥ २७३ ॥

ततश्चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। ततः कदाचिद्राजा विद्वद्वृंदं निर्गतं कालिदासं च अनवरतवेश्यालंपटं ज्ञात्वाप्यचिंतयत् । अहह ! बाणमयूरप्रभृतयो मदीयामाज्ञां व्यदधुः। अयं च वेश्यालंपटतया ममाज्ञां नाद्रियते किं कुर्म इति । ततो राजा सावज्ञं कालिदासमपश्यत् । तत आत्मनि राज्ञोऽवज्ञां ज्ञात्वा कालिदासो बल्लालदेशं गत्वा तद्देशाधिनाथं प्राप्य प्राह। देव ! मालवेंद्रस्य भोजस्यावज्ञया त्वद्देशं प्राप्तोऽहं कालिदासनामककविरिति। ततो राजा तमासने उपवेश्य प्राह । सुकवे ! भोजसभाया इहागतैः पंडितैः संसुदितः शतशस्ते महिमा । सुकवे ! त्वां सरस्वतीं वदंति ततः किमपि पठेति। ततः कालिदास आह ॥

तब चमत्कृत होकर राजाने एक २ अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । फिर किसी दिन राजाने विद्वानोंके चले जानेपर कालिदासको वेश्यालम्पट

जानकर विचारा कि, बडे खेदकी बात है कि, बाण मयूर आदि विद्वानोंने मेरी आज्ञा मानी पर इस वेश्यालम्पट कालिदासने नहीं मानी अब क्या करूँ तब कालिदासको अपराधी ठहराया। कालिदासने राजाकी अवज्ञासे बल्लालदेशमें जाय वहाँके राजासे कहा हे देव ! मालवेन्द्र राजा भोजकी अवज्ञा करनेसे मैं कालिदासनामक कवि आपके यहाँ आयाहूं । तब राजाने आसनपर बैठाकर कहा हे सुकवे ! भोजकी सभासे आकर सैकडों पण्डितोंने तुम्हारी प्रशंसा कीहै, हे सुकवे ! तुमको साक्षात् सरस्वती कहते हैं अतएव कुछ पढिये । तब कालिदासने कहा ।

बल्लालक्षोणिपाल त्वदहितनगरे संचरंती किराती ।
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिरांगारशंकाकुलांगी ॥
क्षिप्त्वा श्रीखंडखंडं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमंती ।
श्वासामोदानुपातैर्मधुकरनिकरैर्धूमशंकां बिभर्ति ॥ २७४ ॥

हे बल्लालक्षोणिपाल ! आपके शत्रुओंके नगरमें विचरती हुई भीलनी विखरे रत्नोंको ले उन्हें चमकते हुए खैरके बडे अंगारे जान व्याकुल होकर उनपर चन्दनको छिडक नेत्रोंको मींच मधुर श्वासके बहनेसे सुगन्धिसे मत्त हो भ्रमरगणोंके आनेसे धूमकी शङ्का करती है ॥ २७४ ॥

ततस्तस्मै प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । ततः कदाचिद्बल्लालराजा कालिदासं पप्रच्छ । सुकवे ! एकशिलानगरीं व्यावर्णयेति । ततः कविराह॥

फिर राजाने उनके एक २ अक्षरपर एक २ लाख रुपये दिये । फिर किसी दिन राजा बल्लालने कालिदाससे पूछा । हे सुकवे ! एकशिलानगरीका वर्णन करो । तब कालिदासने कहा ।

अपांगपातैरपदेशपूर्वैरेणीदृशामेकशिलानगर्याम् ॥
वीथीषु वीथीषु विनापराधं पदे पदे शृंखलिता युवानः २७५॥

एकशिलानगरीमें मृगनयनी स्त्रियोंके तिरस्कारित कटाक्षोंसे गली २ और पद पदपर युवक जन सांकलोंमें बँधगये ॥ २७५ ॥

पुनश्च प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । कविः पुनश्च पठति ॥

फिरभी राजा वल्लालने एक २ अक्षरपर लाख २ रुपये दिये, तो कविने फिर पढा ।

अंभोजपत्रायतलोचनानामंभोधिदीर्घास्विह दीर्घिकासु ॥
समागतानां कुटिलैरपांगैरनंगबाणैः प्रहता युवानः ॥ २७६ ॥

यहाँ सागरकी समान विशाल वावडियोंमें आई हुइ कमलदलकी समान नेत्रवाली स्त्रियोंके तिरछे कटाक्षरूपी कामदेवके बाणोंसे युवक जन मारे गये ॥ २७६ ॥

पुनश्च बल्लालनृपः प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । एवं तत्रैव स्थितः कालिदासः । अत्रांतरे धारानगर्यां भोजं प्राप्य द्वारपालः प्राह देव ! गुर्जरदेशात् माघनामा पंडितवर आगत्य नगराद्बहिरास्ते । तेन च स्वपत्नी राजद्वारि प्रेषिता । राजा तां प्रवेशयेत्याह । ततो माघपत्नी प्रवेशिता सा राजहस्ते पत्रं प्रायच्छत् । राजा तदादाय वाचयति ॥

फिरभी बल्लालदेशके राजाने एक २ अक्षरपर लाख २ रुपये दिये । इसी भांति वहीं कालिदास रहने लगे । इसी अवसरपर धारानगरीमें राजा भोजसे आकर द्वारपालने कहा हे देव ! गुजरातसे माघनामक पंडितराज आकर नगरसे बाहर विराज रहे हैं । उन्होंने अपनी स्त्रीको राजद्वारपर भेजा है, राजाने कहा बुला लाओ । तब माघकी स्त्रीने आकर राजाके हाथमें पत्र दिया । राजाने उसे लेकर पढा ।

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदंभोजषंडं ।
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ॥
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं ।
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥ २७७ ॥

सूर्यके उदय और चन्द्रमाके अस्त होनेपर कुमुदकी शोभा जाती रही और कमलोंपर शोभा आगई। उल्लू पक्षियोंका आनन्द जाता रहा और चकवा प्रसन्न हुए इससे जान पडता है कि, कर्मफलकी विचित्र गति है ॥२७७॥

इति राजा तद्गतं प्रभातवर्णनमाकर्ण्य लक्षत्रयं दत्त्वा माघपत्नीमाह। मातरिदं भोजनाय दीयते प्रातरहं माघपंडितमागत्य नमस्कृत्य पूर्णमनोरथं करिष्यामीति। ततः सा तदादाय गच्छंती याचकानां मुखात्स्वभर्तुः शारदचंद्रकिरणगौरान् गुणान् श्रुत्वा तेभ्यो धनमखिलं भोजदत्तं दत्तवती। माघपंडितं स्वभर्तारमासाद्य प्राह। नाथ! राज्ञा भोजेनाहं बहु मानिता धनं सर्वं याचकेभ्यस्त्वद्गुणानाकर्ण्य दत्तवती। माघः प्राह। देवि! साधु कृतं परमेते याचकाः समायांति किल तेभ्यः किं देयमिति। ततो माघपंडितं वस्त्रावशेषं ज्ञात्वा कोऽप्यर्थी प्राह॥

राजाने उस पत्रमें लिखे प्रातःकालके वर्णनको सुन माघकी स्त्रीको तीन लाख रुपये देकर कहा—कि, हे मातः! यह आपके भोजनके लिये दिया है कल प्रातःकाल माघमहाराजके दर्शन कर मनोरथको पूर्ण करूंगा। जब माघकी स्त्री लेकर चली तो मार्गमें अपने स्वामीके शरदृतुके चन्द्रमाकी चांदनीके समान निर्मल गुण याचकोंके मुखसे सुने तो समस्त धन उन्हीं याचकोंको दे दिया। और स्वामीके पास जाकर बोली हे नाथ! राजा भोजने बडे मानसे तीन लाख रुपये दियेथे सो आपके गुण बखाननेसे याचकोंको दे दिये। माघने कहा हे देवि! अच्छा किया। परन्तु याचक आरहे हैं सो इनको क्या देना चाहिये। फिर माघ पण्डितपर केवल वस्त्र जानकर एक याचकने कहा।

आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्णतप्त-।
मुद्दामदावविधुराणि च काननानि॥

नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा।
रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः ॥ २७८ ॥

हे मेघ ! सूर्यके प्रचण्ड तापसे तपते हुए पर्वतोंको धीरज दे वनोंकी तीव्र दावानलको शान्त कर सैकडों नदी और नालोंको पूर्ण करके जो तू खाली हुआ है उसीसे तेरी उत्तमं शोभा है ॥ २७८ ॥

इत्येतदाकर्ण्य माघः स्वपत्नीमाह। देवि !

यह सुन माघने अपनी स्त्रीसे कहा—हे देवि !

अर्था न संति न च मुंचति मां दुराशा।
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे ॥
याच्ञा च लाघवकरी स्ववधे च पापं।
प्राणाः स्वयं व्रजत किं परिदेवनेन ॥ २७९ ॥

मुझपर धन न होनेपरभी दुराशा नहीं छूटती और दुर्ललित मनको छोड-नेमें हर्ष होता है, याचना गौरवको नष्ट करती है और स्वयं मरनेसे पाप होता है, इस कारण विलाप करनेसे क्या होगा मेरे प्राण स्वयंही निकल जांय तो अच्छा है ॥ २७९ ॥

दारिद्र्यानलसंतापः शांतः संतोषवारिणा ॥
याचकाशाविघातांतर्दाहः केनोपशाम्यतीति ॥ २८० ॥

दरिद्रताकी अग्निसे उत्पन्न हुआ ताप सन्तोषरूपी जलसे शान्त हो जाता है। परन्तु याचकोंकी आशा भंग होनेसे आन्तरिकदाह किसी भांतिसे शान्त नहीं होता है ॥ २८० ॥

ततस्तदा माघपंडितस्य तामवस्थां विलोक्य सर्वे याचकाः यथा-स्थानं जग्मुः। एवं तेषु याचकेषु यथायथं गच्छत्सु माघः प्राह ॥

फिर माघपण्डितकी यह दशा देखकर सब याचक अपने घर चले गये। उन सब याचकोंके चलेजानेपर माघपंडितने कहा।

व्रजत व्रजत प्राणा अर्थिभिर्व्यर्थतां गतैः ॥
पश्चादपि च गंतव्यं क्व सोऽर्थः पुनरीदृशः ॥ २८१ ॥

प्राण जाते हैं तो जायँ कारण याचक व्यर्थ चले गये। एक दिन तो प्राण जांयगेही फिर इन्हें किस प्रयोजनसे विरमाये रक्खूं ॥ २८१ ॥

इति विलपन् माघपंडितः परलोकमगात्। ततो माघपत्नी स्वामिनि परलोकं गते सति प्राह ॥

ऐसा विलाप करते हुए माघ परलोकको सिधारे जब स्वामी परलोकवासी हुए तब उनकी स्त्रीने कहा।

सेवंते स्म गृहे यस्य दासवद्भूभुजः सदा ॥
स स्वभार्यासहायोऽयं म्रियते माघपंडितः ॥ २८२ ॥

जिसके घरको राजा दासकी समान सदा सेवन करता है, वही माघ पंडित केवल भार्याके सहायक होनेपर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २८२ ॥

ततो राजा माघं विपन्नं ज्ञात्वा निजनगराद्विप्रशतावृतो मौनी रात्रावेव तत्रागात्। ततो माघपत्नी राजानं वीक्ष्य प्राह। राजन्! यतः पंडितवरस्त्वद्देशं प्राप्तः परलोकमगात् ततोऽस्य कृत्यशेषं सम्यगाराधनीयं भवतेति। ततो राजा माघं विपन्नं नर्मदातीरं नीत्वा यथोक्तेन विधिना संस्कारमकरोत् तत्र च माघपत्नी वह्नौ प्रविष्टा। तयोश्च पुत्रवत् सर्वं चक्रे भोजः। ततो माघे दिवं गते राजा शोकाकुलो विशेषेण कालिदासवियोगेन च पंडितानां प्रवासेन कृशोऽभूद्दिनेदिने बहुलपक्षशशीव। ततोऽमात्यैर्मिलित्वा चिंतितम्। वल्लालदेशे कालिदासो वसति। तस्मिन्नागते राजा सुखी भविष्यतीति। एवं विचार्यामात्यैः पत्रे किमपि लिखित्वा ततः पत्रं चैकस्यामात्यस्य हस्ते दत्त्वा प्रेषितम्। स कालक्रमेण कालिदासमा-

साद्य राज्ञोऽमात्यैः प्रेषितोऽस्मीति नत्वा तत्पत्रं दत्तवान् । ततस्तत्कालिदासो वाचयति ॥

फिर राजा माघकी मृत्युको सुन सैकडों ब्राह्मणोंको साथ ले मौन धारण कर रात्रिहीमें वहाँ आया । तब माघकी स्त्रीने राजाको देखकर कहा—हे राजन् ! पंडितजी तुम्हारे देशमें आकर मृत्युको प्राप्त हुए हैं अत एव इनके मृतक संस्कारको भली भाँतिसे पूर्ण करो । तब राजाने माघका मृतक शरीर लेजाकर नर्मदानदी किनारे संस्कार किया और वहीं माघकी स्त्री चितामें प्रवेश करके सतीलोकको पधारीं । उनकी समस्त क्रिया राजा भोजने पुत्रके समान करी । जब माघपण्डित स्वर्गको सिधारे तब शोकसे व्याकुल हो दूसरे कालिदासकी वियोगाग्निसे सन्तप्त हो तीसरे पण्डितोंके प्रवासी होनेसे राजा दिनपर दिन दुर्बल होने लगा । जैसे कृष्णपक्षका चन्द्रमा कलाहीन होता है । तब मंत्रियोंने परस्पर मिलकर निश्चय किया कि, वल्लालदेशमें कालिदास रहते हैं । उनके आनेपर राजा सुखी होंगे । यह विचार मंत्रियोंने पत्रमें कुछ लिखकर एक मंत्रीके हाथ वह पत्र वहाँ भेज दिया । वह मंत्री चलकर कालिदासके पास पहुँचा और प्रणाम करके बोला महाराज ! आपको पत्र देनेके लिये मुझे मांत्रियोंने भेजा है । यह कह पत्र दे दिया । तब कालिदासने उसे पढा ।

न भवति भवति न चिरं भवति चिरं चेत् फले विसंवादी ॥
कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः स्नेहेन नीचानाम् ॥ २८३ ॥

सत्पुरुषोंको कोप नहीं होता, यदि होभी तो वह चिरकालतक नहीं रहता, यदि चिरकाल रहे तो उससे उत्तम फल होता है । अतः उत्तम पुरुषोंका कोप नीच पुरुषोंके स्नेहके समान होता है ॥ २८३ ॥

सहकारे चिरं स्थित्वा सलीलं बालकोकिल ॥
तं हित्वाद्यान्यवृक्षेषु विचरन्न विलज्जसे ॥ २८४ ॥

हे बालकोकिल ! लीलाके साथ आमके वृक्षपर चिरकाल रहकर अब आमको त्याग अन्य वृक्षोंपर विचरते हुए तुझे लज्जा क्यों नहीं आती ॥ २८४ ॥

कलकंठ यथा शोभा सहकारे भवाद्गिरः ॥
खदिरे वा पलाशे वा किं तथा स्याद्विचारयेति ॥ २८५ ॥

हे सुंदर कंठवाली कोकिल ! विचार तो देख ! जैसी शोभा तू आमके वृक्षपर पाती है वैसी शोभा और खैर ढाकके वृक्षपर नहीं पासक्ती ॥२८९ ॥

तत कालिदासः प्रभाते तं भूपालमापृच्छ्य मालवदेशमागत्य राज्ञः क्रीडोद्याने तस्थौ। ततो राजा च तत्रागतं ज्ञात्वा स्वयं गत्वा महता परिवारेण तमानीय संमानितवान् । ततः क्रमेण विद्वन्मंडले च समायाते सा भोजपरिषत् प्रागिव रेजे। ततः सिंहासनमलंकुर्वाणं भोजं द्वारपाल आगत्य प्रणम्याह। देव ! कोऽपि विद्वान् जालंधरदेशादागत्य द्वार्यास्त इति। राजा प्रवेशयेत्याह। स च विद्वानागत्य सभायां तथाविधं राजानं जगन्मान्यान् कालिदासादीन् कविपुंगवान्वीक्ष्य बद्धजिह्व इवाजायत। सभायां किमपि तस्य मुखान्न निस्सरति। तदा राज्ञोक्तं विद्वन् ! किमपि पठेति। स आह ॥

फिर कालिदास प्रातःकाल राजासे पूछ मालवेमें आकर राजाके बगीचेमें विराजे। तब राजा कालिदासको आया जान परिवारसहित वहाँ आया और सन्मानके साथ उनको लेगया। फिर कुछ कालमें विद्वानोंका मंडल आगया। तो राजा भोजकी सभा पूर्वकी समान शोभाको प्राप्त हो गई। सभाके बीच सिंहासनपर बैठे हुए राजा भोजसे आकर द्वारपालने प्रणाम करके कहा हे देव ! कोई विद्वान् जालन्धरदेशसे आकर दरवाजेपर खडा है। राजाने कहा लिवा लाओ। उस विद्वान्‌ने सभामें आकर राजा भोजको जगन्मान्य कालिदासादि कवियोंके साथ बैठे देखा तो उसकी जिह्वाकी गति रुकगई। सभाके बीच उसके मुखसे कुछ नहीं निकला। तब राजाने कहा हे विद्वन् ! कुछ कहिये। उसने कहा।

आरनालगलदाहशंकया ।
मन्मुखादपगता सरस्वती ॥
तेन वैरिकमलाकचग्रह- ।
व्यग्रहस्त न कवित्वमस्ति मे ॥ २८६ ॥

हे शत्रुओंकी राजलक्ष्मीके केशोंको पकडनेमें व्यग्र हस्त राजा भोज ! कांजीकी शंकासे मेरे मुखसे वाणीरूपिणी सरस्वती चलीगई अतएव मेरे मुखमें अब कविताशक्ति नहीं है ॥ २८६ ॥

राजा तस्मै महिषीशतं ददौ । अन्यदा राजा कौतुकाकुलः सीतां प्राह । देवि सुरतं पठेति । सीता प्राह–

राजाने उसको सौ भैंसें दीं । एक दिन राजाने आश्चर्यके साथ सीतासे कहा हे देवि ! सुरतको पढो । सीताने कहा–

सुरताय नमस्तस्मै जगदानंदहेतवे ॥
आनुषंगि फलं यस्य भोजराज भवादृशः ॥ २८७ ॥

हे राजाभोज ! जगत्के आनन्दके कारण सुरतको प्रणाम है, जिसका फल तुम्हारी समान पुरुषोंका मिलना है ॥ २८७ ॥

ततस्तुष्टो राजा तस्यै हारं ददौ । राजा ततो चामरग्राहिणीं वेश्यामवलोक्य कालिदासं प्राह । सुकवे ! वेश्यामेनां वर्णयेति । तामवलोक्य कालिदासः प्राह ॥

तब राजाने प्रसन्न होकर रानीको हार दिया । फिर राजा चँवर डुलानेवाली वेश्याको देख कालिदाससे बोले हे सुकवे ! इस वेश्याका वर्णन करो । उसे देख कालिदासने कहा ।

कचभारात्कुचभारः कुचभाराद्भीतिमेति कचभारः ॥
कचकुचभाराज्जघनं कोऽयं चंद्रानने चमत्कारः ॥ २८८ ॥

हे चन्द्रमुखी! यह क्या आश्चर्य है जो कचभार (केशके भार) से कुचभार और कुचभारसे कचभार और कच व कुचके भारसे जाँघें भयभीत हो रही हैं अर्थात् यह सब हिल्कर सूचित करते हैं कि, आपसके भयसे कँप रहे हैं॥ २८८॥

भोजस्तुष्टः सन् स्वयमपि पठति॥

फिर प्रसन्न होकर राजाने स्वयंभी पढा।

वदनात्पदयुगलीयं वचनादधरश्च दंतपंक्तिश्च॥
कचतः कुचयुगलीयं लोचनयुगलं च मध्यतस्त्रसति॥२८९॥

इसके मुखसे दोनों चरण, वचनसे होंठ वा समस्त दांत, केशोंसे दोनों कुच और कटिभागसे दोनों नेत्र डरते हैं॥ २८९॥

अन्यदा भोजो राजा धारानगरे एकाकी विचरन् कस्यचिद्विप्रवरस्य गृहं गत्वा तत्र कांचन पतिव्रतां स्वांके शयानं भर्तारमुद्वहंतीं पश्यन् ततः तस्याः शिशुः सुप्तोत्थितः ज्वालायाः समीपमगच्छत्। इयं च पतिधर्मपरायणा स्वपतिं नोत्थापयामास। ततः शिशुं च वह्नौ पतंतं नागृह्णात्। राजा चाश्चर्यमालोक्यातिष्ठत्। ततः सा पतिधर्मपरायणा वैश्वानरमप्रार्थयत्। यज्ञेश्वर! त्वं सर्वकर्मसाक्षी सर्वधर्मान् जानासि मां पतिधर्मपराधीनां शिशुमगृह्णंतीं च जानासि ततो मदीयशिशुमनुगृह्य त्वं मा दहेति। ततः शिशुर्यज्ञेश्वरं प्रविश्य तं च हस्तेन गृहीत्वार्धघटिकापर्यंतं तत्रैवातिष्ठत् ततश्चारोदीत् प्रसन्नमुखश्च शिशुः सा च ध्यानारूढातिष्ठत्। ततो यदृच्छया समुत्थिते भर्तरि सा झटिति शिशुं जग्राह। तं च परमधर्ममालोक्य विस्मयाविष्टो नृपतिराह। अहो मम भाग्यं कस्यास्ति। यदीदृश्यः पुण्यस्त्रियोऽपि मन्नगरे वसंतीति। ततः प्रातः

सभायामागत्य सिंहासन उपविष्टो राजा कालिदासं प्राह सुकवे ! महदाश्चर्यं मया पूर्वेद्यू रात्रौ दृष्टमस्तीत्युक्त्वा राजा पठति ॥

एक समय राजा भोजने धारानगरीमें इकले विचरते हुए किसी ब्राह्मणके घर जाकर देखा कि, पतिव्रता स्त्रीकी गोदमें शिर धरे उसका पति सो रहा है और उसका बालक सोतेसे उठकर अग्निके समीप जा रहा है, तोभी पतिधर्मको जाननेवाली स्त्री अपने पतिको नहीं जगाती है, देखते २ बालक अग्निकुंडमें जाकर गिरगया तबभी स्त्रीने जाकर बालक नहीं पकडा । राजा इस आश्चर्यको देख स्थित होगया । तब उस पतिव्रतास्त्रीने अग्निदेवकी प्रार्थना करी । हे यज्ञेश्वर ! तुम सभी कर्मोंके साक्षी और ज्ञाता हो, मैं पतिव्रतधर्मके वशीभूत होनेसे बालकको नहीं पकड सकी यहभी जानते हो, अतएव मेरे बालकको दया करके मत जलाना । फिर अग्निदेवको प्राप्त होकर बालक उनके हाथ आधी घडीलों स्थित रहा पीछे बालक प्रसन्नतासे रोने लगा । इधर पतिव्रता अपने ध्यानमें लीन रही । जब उसके स्वामीकी नींद छूटी तब उसने उठकर शीघ्रतासे बालकको उठा लिया । उसके परमधर्मको देख राजा अचंभित होकर बोला अहा ! मैं बडा भाग्यशाली हूं । जिससे ऐसी पतिव्रता स्त्री मेरे नगरमें वास करती है । फिर प्रातःकाल आकर जब राजा सिंहासनपर बैठा तब कालिदाससे कहा हे सुकवे ! मैंने कल रात्रिमें बडा आश्चर्य देखा यह कह राजाने पढा ।

हुताशनश्चंदनपंकशीतल इति ।

अग्नि चन्दनकी कीचके समान शीतल होगई ।

कालिदासस्ततश्चरणत्रयं झटिति पठति ॥

फिर कालिदासने शीघ्रही तीन चरण पढ दिये ।

सुतं पतंतं प्रसमीक्ष्य पावके ।
न बोधयामास पतिं पतिव्रता ॥
तदाभवत्तत्पतिभक्तिगौरवाद् ।
हुताशनश्चंदनपंकशीतलः ॥ २९० ॥

पुत्रको अग्निकुंडमें गिरते देखकरभी पतिव्रता स्त्रीने अपने पतिको नहीं जगाया। तब उसकी पतिभक्तिकी गुरुतासे अग्नि चन्दनकी कीचकी समान शीतल होगई॥ २९०॥

राजा च स्वाभिप्रायमालोक्य विस्मितस्तमालिंग्य पादयोः पतति स्म। एकदा ग्रीष्मकाले राजा अंतःपुरे विचरन् घर्मताप-तप्त आलिंगनादिकमकुर्वन् ताभिः सह सरससँल्लापाद्युपचारमनु-भूय तत्रैव सुप्तः। ततः प्रातरुत्थाय राजा सभां प्रविष्टः कुतूह-लात् पठति॥

राजाने अपने अभिप्रायको कहते देख आश्चर्य किया। फिर कालिदाससे मिलकर उनके चरणोंमें गिरपडा। एक समय ग्रीष्मऋतुके प्रचंड सूर्यकी धूपके तापसे तप्त होकर राजाने रनवासमें जाकर आलिङ्गन आदि नहीं किया और रानियोंके साथ रसीली वातोंके सुखका अनुभव करके; वहीं सो रहा।फिर प्रातःकाल सभामें आकर आनन्दसे पढा—

मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति संप्रवृद्ध एव॥

पवन आनेकी वातभी नहीं ऐसे समयके प्रवल होनेपर।

भवभूतिराह—

भवभूतिने कहा—

उरगी शिशवे बुभुक्षवे स्वामदिशत्फूत्कृतिमाननानिलेन॥२९१॥

सर्पिणीने अपने क्षुधित वालकको मुखकी वायुसे फुङ्कारदी॥ २९१॥

राजा प्राह। भवभूते लोकोक्तिः सम्यगुक्तेति। ततोऽपांगेन राजा कालिदासं पश्यति। ततः स आह॥

यह सुन राजाने कहा हे भवभूति! लोकोक्ति अच्छी कही। फिर संके-तसे कालिदाससे कहा तब कालिदासने कहा।

अबलासु विलासिनोऽन्वभूवन्नयनैरेव नवोपगहनानि॥ २९२॥

(उस समय) विलासी पुरुषोंने आलिङ्गन करनेमें' गरमी मान नेत्रोंके देखनेसेही प्रसन्नता प्राप्त की ॥ २९२ ॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वा तुष्टः । कालिदासं विशेषेण सम्मानितवान् । अन्यदा मृगयापरवशो राजा अत्यंतमार्तः कस्यचित्सरोवरस्य तीरे निबिडच्छायस्य जंबूवृक्षस्य मूलमुपाविशत् । तत्र शयाने राज्ञि जंबोरुपरि बहुभिः कपिभिः जंबूफलानि सर्वाण्यपि चालितानि । तानि सशब्दं पतितानि पश्यन् घटिकामात्रं स्थित्वा श्रमं परिहृत्य उत्थाय तुरंगमवरमारुह्य गतः । ततः सभायां राजा पूर्वानुभूतकपिचलितफलपतनरवमनुकुर्वन् समस्यामाह । 'गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु' तत आह कालिदासः ॥

तब राजा अपने अभिप्रायको जानकर प्रसन्न हुआ और कालिदासको विशेष माना । एक समय शिकार खेलतेहुए थकका राजा सरोवरके किनारे घनीछायावाले जामुनके वृक्षकी जडके पास बैठगया । और जब लेटा तो जामनके वृक्षपर चढकर अनेक वानरोंने जामनकी शाखाओंको हिलाय जामुनके फल नीचे गिरादिये । तब उन फलोंके गिरनेके शब्दको देख घडीभरलों वहाँ विराम ले श्रमको दूर कर उठा और घोडेपर सवार हो चल दिया । फिर सभामें आकर पूर्वके देखे जामुनके फल गिरतेहुए शब्दका अनुकरण करके समस्या कही । (गुलु गुग्गुलु गुग्गुलु) तब कालिदासने कहा ।

जंबूफलानि पक्वानि पतंति विमले जले ॥
कपिकंपितशाखातो गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु ॥ २९३ ॥

वानरों द्वारा जामुनवृक्षकी शाखाओंके हिलनेसे पके हुए जामुनके फल जब जलमें गिरे तब शब्द हुआ गुलु गुग्गुलु गुग्गुलु ॥ २९३ ॥

राजा तुष्ट आह । सुकवे! अदृष्टमपि परहृदयं कथं जानासि साक्षाच्छारदासीति मुहुर्मुहुः पादयोः पतति स्म । एकदा धारान-

गरे प्रच्छन्नवेषो विचरन् कस्यचिद्वृद्धब्राह्मणस्य गृहं राजा मध्याह्नसमये गच्छन् तत्र तिष्ठति स्म। तदा वृद्धविप्रो वैश्वदेवं कृत्वा काकबलिं गृह्णन् गृहान्निर्गत्य भूमौ जलशुद्धायां निक्षिप्य काकमाह्वयति स्म। तत्र हस्तविस्फालनेन हाहेतिशब्देन च काकाः समायाताः। तत्र कश्चित्काकस्तारं रारटीति स्म। तच्छ्रुत्वा तत्पत्नी तरुणी भीतेव हस्तं निजोरसि निधाय अये मातरिति चक्रंद॥ ततो ब्राह्मणः प्राह। प्रिये साधुशीले! किमर्थं बिभेषीति। सा प्राह। नाथ! मादृशीनां पतिव्रतास्त्रीणां क्रूरध्वनिश्रवणं सह्यं वा। साधुशीले! तथा भवेदेवेति विप्र आह। ततो राजा तच्चरितं सर्वं दृष्ट्वा व्यचिंतयत्। अहो इयं तरुणी दुश्शीला नूनम्। यतो निर्व्याजं बिभेति स्वपातिव्रत्यं स्वयमेव कीर्तयति च नूनमियं निर्भीता सती अत्यंतं दारुणं कर्म रात्रौ करोत्येव। एवं निश्चित्य राजा तत्रैव रात्रावंतर्हित एवातिष्ठत्। अथ निशीथे भर्तरि सुप्ते सा मांसपेटिकां वेश्याकरेण वाहयित्वा नर्मदातीरमनुगच्छत्। राजाप्यात्मानं गोपयित्वानुगच्छति स्म। ततः सा नर्मदां प्राप्य तत्र समागतानां ग्राहाणां मांसं दत्त्वा नदीं तीर्त्वा अपरतीरस्थेन शूलाग्रारोपितेन स्वमनोरमेण सह रमते स्म। तच्चरित्रं दृष्ट्वा राजा गृहं समागत्य प्रातस्सभायां कालिदासमालोक्य प्राह। सुकवे! शृणु॥

राजाने प्रसन्न होकर कहा। हे सुकवे! विना देखे हृदयके भावको कैसे जान लेते हो इससे निश्चय होता है कि तुम साक्षात् सरस्वतीके अवतार हो, यह कहकर वारम्वार उनके चरणोंमें गिरनेलगा। एक समय राजाने भेष वदलकर धारानगरीमें विचरते हुए किसी ब्राह्मणके घरपर जाय मध्याह्नके समय वहाँ विराम किया। जब वृद्ध ब्राह्मण वैश्वदेवकरके काकबलिको

-ले घरके द्वारे जा शुद्ध भूमिपर जल छिडक काकोंको बुलाने लगा। तब पंजोंको फैलाय हाहा शब्द करके काक आगये। उनमें कोई काक ऊंचे शब्दसे रटने लगा। तिसकी वाणी सुन ब्राह्मणकी युवती स्त्री भयसे व्याकुल होनेकी समान हृदयपर हाथ धरके अरी मैय्या! पुकारने लगी। तब ब्राह्मणने कहा हे प्रिये! हे साधुशीले! क्यों भय मानती हो? वह बोली नाथ! मेरी समान पतिव्रता स्त्रियोंको ऐसा क्रूर शब्द नहीं सहन होताहै। ब्राह्मणने कहा–हे साधुशीले! ऐसाही होगा। तब राजाने उसका समस्त चरित्र देखकर विचारा कि, यह युवती स्त्री निःसन्देह दुराचारिणी है। इसीसे डरनेके कारणको बता अपने पतिव्रताधर्मको आपही कीर्त्तन करती है। यह अवश्य भयभीताकी समान रात्रिम अतिदारुण काम करती होगी। इसे निश्चित कर राजा रात्रिमें वहीं छिपरहा। जब आधीरात बीती और स्वामी सोगया तब यह वेश्याके हाथ मांसकी पिटारी ले नर्मदानदीके किनारे गई। इधर राजाभी अपने भेपको छिपाये उसके पीछे चला गया। फिर उसने नर्मदानदीपर जाय वहाँके ग्राहोंको मांस देकर नदीके पार उतर शूलों-पर आरोपित अपने प्रियतमके साथ रमण किया। राजाने उस चारित्रको देख घरपर आकर प्रातःकाल सभामें कालिदासको देखकर कहा–श्रेष्ठ कविजी! सुनिये।

दिवा काकरुताद्भीता।

दिनमें काकोंके शब्दसे डरी।

ततः कालिदास आह–रात्रौ तरति नर्मदाम्॥

तब कालिदासने कहा–रात्रिमें नर्मदाके पार गई।

ततस्तुष्टो राजा पुनः प्राह–तत्र संति जले ग्राहाः।

प्रसन्न होकर राजाने कहा–वहाँ जलमें ग्राह थे।

ततः कविराह–मर्मज्ञा सैव सुंदरी॥ २९४॥

फिर कालिदासने कहा–वह सुन्दरी मर्मको जानती है॥ २९४॥

ततो राजा कालिदासस्य पादयोः पतति। एकदा धारानगरे

विचरन् वेश्यावीथ्यां राजा कंदुकलीलातत्परां तद्भ्रमणवेगेन पादयोः पतितावतंसां कांचन सुंदरीं दृष्ट्वा सभायामाह । कंदुकं वर्णयंतु कवय इति । तदा भवभूतिराह ॥

फिर राजा कालिदासके चरणोंमें गिरपडा । एक समय धारानगरीमें विचरते हुए वेश्याकी गलीमें जाकर राजाने कन्दुकलीला करती और उसके भ्रमणके वेगसे चरणोंमें माला पडीहुई किसी सुन्दरीको देख सभामें आकर कहा—हे कविगण । कन्दुकका वर्णन करो तब भवभूतिने कहा ।

विदितं ननु कंदुक ते हृदयं प्रमदाधरसंगमलुब्ध इव ॥
वनिताकरतामरसाभिहतः पतितः पतितः पुनरुत्पतसि ॥२९५ ॥

हे कन्दुक ! तेरे हृदयके भावको मैं जानताहूं तू स्त्रियोंके अधरामृतके लोभीकी समान स्त्रियोंके करकमलोंसे ताडित हुआ गिरागिरकर फिर उठता है ॥ २९९ ॥

ततो वररुचिः प्राह ॥

तब वररुचिने कहा ।

एकोऽपि त्रय इव भाति कंदुकोऽयं कांतायाः करतलरागरक्तरक्तः ॥
भूमौ तच्चरणनखांशुगौरगौरः स्वःस्थः सन्नयनमरीचिनीलनीलः ॥

एकही कन्दुक तीन प्रकारसे विदित होता है, स्त्रियोंके हाथोंकी लालीसे लाल, पृथ्वीपर उनके नखोंकी किरणोंसे गौर और स्वस्थ होनेपर नेत्रोंकी छायासे नीला प्रतीत होता है ॥ २९६ ॥

ततः कालिदास आह ॥

फिर कालिदासने कहा ।

पयोधराकारधरो हि कंदुकः ।
करेण रोषादभिहन्यते मुहुः ॥
इतीव नेत्राकृतिभीतमुत्पलं ।
स्त्रियाः प्रसादाय पपात पादयोः ॥ २९७ ॥

यह कन्दुक स्त्रीके कुचोंके समान है अतएव क्रोधसे वारम्बार ताडन करना चाहिये। नेत्रोंके आकारसे भीत कमलभी स्त्रीकी प्रसन्नताके लिये चरणोंमें गिरते हैं ॥ २९७ ॥

तदा राजा तुष्टस्त्रयाणामक्षरलक्षं ददौ । विशेषेण च कालिदासमदृष्टावतंसकुसुमपतनबोद्धारं संमानितवान् । ततः कदाचिच्चित्रकर्मावलोकनतत्परो राजा चित्रलिखितं महाशेषं दृष्ट्वा सम्यग्लिखितमित्यवदत् । तदा कश्चिच्छिवशर्मा नाम कविः शेषमिषेण राजानं स्तौति ॥

फिर सहर्ष राजाने तीनों कवियोंको प्रत्येक अक्षरपर लाख २ रुपये दिये। विना देखे मस्तकके मुकुटके फूलोंके गिरनेको जाननेवाले कालिदासको विशेष माना। फिर चित्रकारीके देखनेमें लीन हुए राजाने महाशेषके लिखे चित्रको देखकर कहा अच्छा लिखा है। तब शिवशर्मा नामक कविने शेषके मिस राजाकी स्तुति की।

अनेके फणिनः संति भेकभक्षणतत्पराः ॥
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधरणक्षमः ॥ २९८ ॥

मेढकोंके भक्षक तो अनेक सर्प हैं परन्तु पृथ्वीको धारण करनेवाले केवल शेषजी ही है ॥ २९८ ॥

तदानीं राजा तदभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मै लक्षं ददौ। कदाचिद्धेमंतकाले समागते ज्वलंतीं हसंतीं संसेवयन् राजा कालिदासं प्राह । सुकवे ! हसंतीं वर्णयेति । ततः सुकविराह ॥

तब राजाने उसके अभिप्रायको जानकर लाख रुपये दिये। किसी समय हेमन्तऋतुमें जलती हुई आगकी अंगीठीका सेवन करते हुए राजाने कालिदाससे कहा। हे सुकवे! अंगीठीका वर्णन करो। फिर सुकविने कहा।

कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभातवेलेव ॥
हरमूर्तिरिव हसंती भाति विधूमानलोपेता ॥ २९९ ॥

कविकी बुद्धिकी समान बहुत लोहवाली, प्रातःकालके समयकी समान सुघटित चक्रवाली और धूमसे रहित अग्निसे पूर्ण अंगीठी शोभा पाती है ॥ २९९ ॥

राजा अक्षरलक्षं ददौ । एकदा भोजराजोऽन्तर्गृहे भोगार्हास्तुल्यगुणाश्चतस्रो निजांगना अपश्यत् । तासु च कुंतलेश्वरपुत्र्यां पद्मावत्यामृतुस्नानम्, अंगराजस्य पुत्र्यां चंद्रमुख्यां क्रमप्राप्तिम्, कमलानाम्न्यां च द्यूतपणजयलब्धप्राप्तिम्, अग्रमहिष्यां च लीलादेव्यां दूतीप्रेषणमुखेनाह्वानं च एवं चतुरो गुणान् दृष्ट्वा तेषु गुणेषु न्यूनाधिकभावं राजाप्यचिंतयत् । तत्र सर्वत्र दाक्षिण्यनिधी राजराजः श्रीभोजस्तुल्यभावेन द्वित्रिघटिकापर्यंतं विचिंत्य विशेषानवधारणे निद्रां गतः । प्रातश्चोत्थाय कृताह्निकः सभामगात् । तत्र च सिंहासनमलंकुर्वाणः श्रीभोजः सकलविद्वत्कविमंडलमंडनकालिदासमालोक्य सुकवे ! इमां त्र्यक्षरोनतुरीयचरणां समस्यां शृणु इत्युक्त्वा पठति ॥

तब राजाने अक्षर २ पर लाख २ रुपये दिये । एक समय राजा भोजने रनवासमें भोगनेयोग्य समान गुणवाली चार अंगनाओंको देखा ॥ उनके बीचमें कुंतलेश्वरकी पुत्री पद्मावतीने ऋतुस्नानसे, अङ्गराजकी कुमारी चन्द्रमुखीने क्रमप्राप्तिसे, कमलारानीने जुएसे जीतकर और पटरानी लीलादेवीने दूती भेजकर बुलाया है उन चारोंके गुणोंमें राजा न्यूनाधिक विचारने लगा । उन सबमें एकसी चतुराई जान राजा भोज दो तीन घडीलों विचारनेसे उनमें न्यूनाधिक न जानसका तब सोगया । प्रातःसमय उठ नित्यक्रिया कर सभामें आय सिंहासनपर बैठ राजा भोजने कविमण्डलके शिरोमणि कालिदासको देखकर कहा हे सुकवे ! तीन अक्षर कम चौथे चरणकी समस्याको सुनो । यह कह राजाने पढा ।

अप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः । इति पठित्वा राजा कालिदासमाह । सुकवे ! एतत्समस्यापूरणं कुर्विति । ततः कालिदासस्तस्य हृदयं करतलामलकवत् प्रपश्यन् त्र्यक्षराधिक-चरणत्रयविशिष्टां तां समस्यां पठति । देव !

अयुक्तिसे मूढ मनवाली दो तीन घडी विचारमें लगीं । इसे पढकर राजाने कालिदाससे कहा हे सुकवे ! इस समस्याको पूर्ण करो । तब कालिदासने राजाके हृदयके भावको हाथमें स्थित आमलेकी समान जान तीन अक्षर अधिक तीन चरणोंको बनाय उस समस्याको पढा हे देव !

स्नाता तिष्ठति कुंतलेश्वरसुता वारोऽगराजस्वसु- ।
र्द्यूते रात्रिरियं कृता कमलया देवी प्रसाद्याधुना ॥
इत्यंतःपुरसुंदरीजनगुणे न्यूनाधिकं ध्यायता ।
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः ॥ ३०० ॥

कुन्तलेश्वरकी कुमारीने ऋतुसमयमें स्नान किया है, अंगराजकी बहनकी क्रमानुसार वारा आई है, कमलादेवीने जुएमें जीतकर रात्रि अपनी कर ली है और लीलादेवीने दूतीको भेजकर बुलाया है अतएव उक्त चारों रानियोंमें न्यूनाधिक भावके विचारनेम राजा भोजने अयुक्तिसे मूढमनवाली दो तीन घडीं लगादीं ॥ ३०० ॥

तदा राजा स्वहृदयमेव ज्ञातवतः कालिदासस्य पादयोः पतति स्म । कविमंडलं च चमत्कृतमजायत । एकदा राजा धारानगरे विचरन् क्वचित् पूर्णकुंभं धृत्वा समायांतीं पूर्णचंद्राननां कांचिद्दृष्ट्वा तत्कुंभजले शब्दं च कंचन श्रुत्वा नूनमेव तस्याः कंठग्रहेऽयं घटो रतिकूजितामिव कूजतीति मन्यमानः सभायां कालिदासं प्राह ॥

फिर राजाने अपने अभिप्रायको जाना और कालिदासके चरणोंमें गिर-पडा तो कविसमाज मुग्ध हो गया । एक समय राजाने धारानगरीमें विच-

रते हुए किसी स्थानपर जलसे भरे घडेको लाती हुई चंद्रमुखी स्त्री देखी उसके घडेमें होनेवाले शब्दको सुन विचारसे निश्चय किया कि स्त्री घडेके मुखको पकडे है और घडा रतिकूजित शब्दके समान शब्द करता है तो राजाने सभामें आकर कालिदाससे कहा ।

कूजितं रतिकूजितमिति ॥

यह शब्द रतिकूजित शब्दके समान होता है ।

कविराह–

कालिदासने कहा–

विदग्धे सुमुखे रक्ते नितंबोपरि संस्थिते ॥
कामिन्याश्लिष्टसुगले कूजितं रतिकूजितम् ॥ ३०१ ॥

सुन्दर पके लालवर्णके मुखवाले घडेको जलसे भरके जब स्त्री कमरपर धरके चली तो रतिकूजित शब्दकी समान शब्द निकला ॥ ३०१ ॥

तदा तुष्टो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ ननाम च । एकदा नर्मदायां महाह्रदे जालकैरेकः शिलाखंड ईषद्भ्रंशिताक्षरः कश्चिद्दृष्टः तैश्च परिचिंतितम् । इदमत्र लिखितमिव किंचिद्भाति नूनमिदं राजनिकटं नेयमिति बुद्ध्या भोजसदसि समानीतम् । तदाकर्ण्य भोजः प्राह । पूर्वं भगवता हनूमता श्रीमद्रामायणं कृतं तदत्र ह्रदे नूतनैः प्रक्षेपितमिति श्रुतमस्ति । ततः किमिदं लिखितमित्यवश्यं विचार्यमिति लिपिज्ञानं कार्यं जतुपरीक्षयाक्षराणि परिज्ञाय पठति । तत्र चरणद्वयमानुपूर्व्याल्लब्धम् ॥

तब राजाने प्रसन्न होकर प्रत्येक अक्षरपर लाख २ रुपये दिये और प्रणाम किया । एक समय नर्मदानदीके महाकुंडमें जलको खोदनेवालोंने विगडे हुए अक्षर लिखे शिलाखण्डको देखा और विचारा कि, इसपर कुछ लिखासा जान पडता है अतएव राजाके पास ले चलना चाहिये ऐसा विचारकर वह राजा भोजकी

सभामें उसको ले आये। राजाने सुनकर कहा प्रथम भगवान् हनुमान्जीने जो श्रीमद्रामायण बनाई थी वह यहां नूतन पुरुषोंने डाल दी सुना जाता है। फिर इसमें क्या लिखा है इसको अवश्य विचारना चाहिये, इस शिलाके लिखित अक्षरोंको लाखकी परीक्षासे जानकर पढा–तो दो चरण आनुपूर्वीसे प्राप्त हुए ॥

अयि खलु विषमः पुराकृतानां ।
भवति हि जंतुषु कर्मणां विपाकः ॥

अयि मित्र ! पूर्व कर्मोंके फल जीवोंको निश्चय विषमरूप होते हैं।

ततो भोजः प्राह। एतस्य पूर्वार्धं कथ्यतामिति तदा भवभूतिराह ॥

तब भोजने कहा–इसका पूर्वार्द्ध पढो। तब भवभूतिने कहा–

क नु कुलमकलंकमायताक्ष्याः।
क नु रजनीचरसंगमापवादः ॥ ३०२ ॥

विशालनयनी सुन्दरीका कहाँ तो निष्कलंक कुल और राक्षसोंके साथका कहां अपवाद ॥ ३०२ ॥

ततो भोजस्तत्र ध्वनिदोषं मन्वानस्तदेव पूर्वार्धमन्यथा पठति स्म ॥

फिर ध्वनि दोष मानकर राजा भोजने उसी पूर्वार्द्धको अन्य प्रकारसे पढा–

क जनकतनया क रामजाया।
क च दशकंधरमंदिरे निवासः ॥

कहां जनककुमारी, कहां रघुवरकी रानी और कहां रावणके मन्दिरमें वास ॥ ३०२ ॥

अयि खलु०–०विपाकः। ततो भोजः कालिदासं प्राह ॥ सुकवे ! त्वमपि कविहृदयं पठेति। स आह–

फिर पूर्व कहे उत्तरार्द्धके (अयि ! मित्र ! पूर्व कर्मोंके फल जीवोंको निश्चय

विषम होते हैं) पूर्वार्द्ध बनानेको राजा भोजने कालिदाससे कहा—हे सुकवे ! आपभी पढिये तब कालिदासने कहा--

शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः ।
शिव शिव तानि लुठंति गृध्रपादैः ॥ २०२ ॥

शिव ! शिव !! जिस रावणके शिर महादेवजीके मस्तकपर शोभित होते थे वही अब गिद्धोंके चरणोंमें लोटते हैं ॥ २०२ ॥

अयि खलु०—०विपाकः । ततस्तस्य शिलाखंडस्य पूर्वपटे जतुशोधनेन कालिदासः पठति तमेव दृष्ट्वा राजा भृशं तुतोष । कदाचिद्भोजेन विलासार्थं नूतनगृहांतरं निर्मितम् । तत्र गृहान्तरे गृहप्रवेशात् पूर्वमेकः कश्चिद्ब्रह्मराक्षसः प्रविष्टः स च रात्रौ तत्र ये वसंति तान् भक्षयति । ततो मांत्रिकान् समाहूय तदुच्चाटनाय राजा यतते स्म । स च आगच्छन्नेव मांत्रिकानेव भक्षयति । किं च स्वयं कवित्वादिकं पूर्वाभ्यस्तमेव पठन् तिष्ठति । एवं स्थिते तत्रैव रक्षसि राजा कथमस्य निवृत्तिरिति व्यचिंतयत् । तदा कालिदासः प्राह । देव नूनमयं राक्षसः सकलशास्त्रप्रवीणः सुकविश्च भाति । अतस्तमेव तोषयित्वा कार्यं साधयामि । मांत्रिकास्तिष्ठंतु मम मंत्रं पश्येत्युक्त्वा स्वयं तत्र रात्रौ गत्वा शेते स्म । ततः प्रथमयामे ब्रह्मराक्षसः समागतः । स च पूर्वं पुरुषं दृष्ट्वा प्रतियाममेकैकां समस्यां पाणिनिसूत्रमेव पठति । येनोत्तरं तद्धृदयं गतं नोक्तमयं न ब्राह्मणोऽतो हंतव्य इति निश्चित्य हंति । तदानीमपि पूर्ववदयमपूर्वः पुरुषः अतो मया समस्या पठनीया न चेद्वक्ति सदृशमुत्तरं तस्याः तदा हंतव्य इति बुद्ध्या पठति ॥

फिर वहीं उत्तरार्द्ध कहा पीछे उस शिलाके खण्डको पूर्व पुटमें लाखसे शोधन कर कालिदासने पढा—तब कालिदासके बनाये पूर्वार्द्धको देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। किसी समय राजा भोजने अपने विलासके लिये महल बनवाया। उस महलमें गृहप्रवेश करनेसे पहलेही कोई ब्रह्मराक्षस प्रविष्ट होगया। तब रात्रिमें उस महलके बीच जो सोता वह उसेही भक्षण करजाताथा। फिर मंत्रशास्त्रके ज्ञाताओंको बुलाकर राजाने उसके उच्चाटनके लिये यत्न किया, तब ब्रह्मराक्षसने आतेही उन्हें भक्षण कर लिया और पूर्वके अभ्याससे कविता आदिको पढता हुआ विराजमान रहा। उसके ऐसे विराजमान रहनेसे राजाने विचारा कि, अब कैसे यह दूर हो। तब कालिदासने कहा—हे देव! अवश्यमेव राक्षस शास्त्रमें प्रवीण है। अतएव इसे प्रसन्न करके कार्यको सिद्ध करूंगा। हे मंत्रशास्त्रियो! ठहरो और मेरे मंत्रको देखो यह कह कालिदास रात्रिमें वहां जाकर सोरहे। जब पहले पहरमें ब्रह्मराक्षस आया तब वह पुरुषको देखकर पहर २ में एक २ समस्या पाणिनिके सूत्रोंकी पढता हुआ। जिसने उसके हृदयक भावको नहीं कहा उसको ब्राह्मण न जानकर मारदेता था। उस दिनभी पूर्वकी समान अपूर्व पुरुष जानकर समस्या पढी और कहा यदि आजभी ठीक उत्तर न देगा तो मारदूंगा यह निश्चय कर पढा।

सर्वस्य द्वे—इति ॥

सबकी दो वस्तु हैं।

तदा कालिदासः प्राह ॥

कालिदासने कहा।

सुमतिकुमती संपदापत्तिहेतू ॥

सुमति और कुमति सम्पत् और विपत्के कारण हैं।

ततः स गतः। पुनरपि द्वितीययामे समागत्य पठति ॥

यह सुनकर वह चला गया--फिर दूसरे पहरमें आकर बोला।

वृद्धो यूना—इति ॥

वृद्धपुरुष युवतीके साथ।

तदा कविराह ॥

तव कालिदासने कहा ।

सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभिः इति ॥

परिचय होनेपर स्त्रियोंद्वारा त्याग दिया जाता है ।

तृतीययामे स राक्षसः पुनः समागत्य पठति ॥

तीसरे पहरमें आकर उस राक्षसने फिर पढा ।

एको गोत्रे—इति ॥

गोत्रमें एक ।

ततः कविराह ॥

तव कालिदासने कहा ।

स भवति पुमान् यः कुटुंबं बिभर्ति ॥

वही पुरुष है जो कुटुम्बको धारण करता है ।

ततश्चतुर्थयामे आगत्य स राक्षसः पठति ॥

फिर चौथे पहरमें आकर राक्षसने पढा ।

स्त्री पुंवच्च—इति ॥

स्त्री पुरुषकी समान ।

ततः कविराह ॥

तव कालिदासने पढा ।

प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम् इति ॥ ३०४ ॥

जव प्रभु हो जाती है तव उस घरका नाश होता है ॥ ३०४ ॥

ततः स राक्षसो यामचतुष्टयेऽपि स्वाभिप्रायमेव ज्ञात्वा तुष्टः प्रभातसमये समागत्य तमाश्लिष्य प्राह । सुमते ! तुष्टोऽस्मि किं तवाभीष्टमिति । कालिदासः प्राह । भगवन्नेतद्गृहं विहायान्यत्र गंतव्यमिति । सोऽपि तथेति गतः । अनंतरं तुष्टो भोजः कविं बहु मानि-

तवान् । एकदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे सकलभूपालशिरोमणौ द्वारपाल आगत्य प्राह । देव दक्षिणदेशात्कोऽपि मल्लिनाथनामा कविः कौपीनावशेषो द्वारि वर्तते । राजा प्रवेशयेत्याह । ततः कविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञया चोपविष्टः पठति ॥

तब उस राक्षसने चारों पहरमें अपने अभिप्रायको जाना और प्रसन्न होकर प्रातःकाल आकर कालिदाससे मिलकर कहा--हे सुमते ! मैं प्रसन्न हूं तुम क्या चाहते हो ? कालिदास बोले--हे भगवन् ! इस स्थानको त्यागकर दूसरे स्थानपर चले जाइये । तब वह कालिदासकी बात मानकर चला गया । फिर प्रसन्न होकर राजा भोजने कवि कालिदासका बडा सन्मान किया । एक समय समस्त राजाओंमें मुकुटमणि राजा भोज सिंहासनपर बैठे थ । तब द्वारपालने आकर कहा हे देव ! दक्षिणदेशसे कोई मल्लिनाथ कवि कौपीन पहरे आये और द्वारपर खडे हैं । राजाने कहा—भेजदो । तब कविने आकर 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद दिया और राजाकी आज्ञासे बैठकर पढा ।

नागो भाति मदेन खं जलधरैः पूर्णेंदुना शर्वरी ।
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मंदिरम् ॥
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पंडितैः ।
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं भानुना ॥ ३०५ ॥

हे राजन् ! जैसे हाथी मदसे, आकाश मेघोंसे, रात्रि पूर्णचन्द्रसे, स्त्री शीलसे, घोडा वेगसे, मंदिर प्रतिदिनके उत्सवोंसे, वाणी व्याकरणसे, नदी हंसके जोडोंसे, सभा पण्डितोंसे, कुल सपूतसे और तीनों लोक सूर्यदेवसे शोभा पाते हैं वैसेही यह पृथिवी आपसे शोभित हो रही है ॥ ३०५ ॥

ततो राजा प्राह । विद्वन् ! तवोद्देश्यं किमिति । ततः कविराह ॥

फिर राजाने कहा—हे विद्वन् ! आपका क्या उद्देश्य है ? तब कविने कहा ।

अंबा कुप्यति न मया न स्नुषया सापि नांबया न मया ॥
अहमपि न तया न तया वद राजन् कस्य दोषोऽयम् ॥ ३०६ ॥

मेरी माता क्रोध करती है सो मुझसे और पुत्रवधूसे नहीं, मेरी पुत्रवधू क्रोध करती है सो मेरी मातासे और मुझसे नहीं, एवं मैभी क्रोध करता हूँ सो माता और पुत्रवधूसे नहीं तब हे राजन्! बताओ किसका दोष है॥३०६॥

इति। राजा च दारिद्र्यदोषं ज्ञात्वा कविं पूर्णमनोरथं चक्रे। एकदा द्वारपाल आगत्य राजानं प्राह। देव! कविशेखरो नाम महाकविर्द्वारि वर्तते। राजा प्रवेशयेत्याह। ततः कविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा पठति॥

राजाने दारिद्रताको कारण जान कविका मनोरथ पूर्ण किया। एक समय द्वारपालने आकर राजासे कहा—हे देव! शेखरनामक महाकवि द्वारपर खडे हैं। राजाने कहा भेजदो। तब कविने आकर 'स्वस्ति' कह आशीर्वाद देकर पढा।

राजन् दौवारिकादेव प्राप्तवानस्मि वारणम्॥
मदवारणमिच्छामि त्वत्तोऽहं जगतीपते॥ ३०७॥

हे राजन्! हाथी तो मुझे द्वारपालसे प्राप्त होगया है पृथिवीनाथ! अब मदमाते हाथीकी आपसे अभिलाषा है॥ ३०७॥

तदा प्राङ्मुखस्तिष्ठन् राजातिसंतुष्टः तं प्राग्देशं सर्वं कवये दत्तं मत्वा दक्षिणाभिमुखोऽभूत्। ततः कविश्चिंतयति किमिदं राजा मुखं परावृत्य मां न पश्यतीति। ततो दक्षिणदेशे समागत्याभिमुखः कविः पठति॥

फिर पूर्व दिशाको मुख किये राजा बैठा था सो प्रसन्न होकर राजाने मनसे कविको समस्त पूर्वदेश देकर दक्षिणको मुख करलिया। तब कविने विचारा यह क्या बात हुई जो राजाने मेरी ओरसे मुख फेरलिया, फिर कविने दक्षिणदिशामें जाकर राजाके सन्मुख हो पढा।

अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कथम्॥
मार्गणौघः समायाति गुणो याति दिगंतरम्॥ ३०८॥

हे राजन् ! यह अपूर्व धनुषविद्या आपने कहाँ सीखी, जो बाणोंका समूह आवे ज्या आकाशको चली जाय ॥ ३०८ ॥

ततो राजा दक्षिणदेशमपि मनसा कवये दत्त्वा स्वयं प्रत्यङ्मुखोऽभूत् । कविस्तत्रागत्य प्राह ॥

फिर राजाने मनमें कविको दक्षिण देश देकर अपना मुख पश्चिमको करलिया । तो पश्चिममें आकर कविने कहा ।

सर्वज्ञ इति लोकोऽयं भवंतं भाषते मृषा ॥
पदमेकं न जानीषे वक्तुं नास्तीति याचके ॥ ३०९ ॥

हे राजन् ! मनुष्य वृथाही आपको सर्वज्ञ कहते हैं कारण याचकके सामने ' नहीं ' कहना नहीं जानते ॥ ३०९ ॥

ततो राजा तमपि देशं कवेर्दत्तं मत्वा उदङ्मुखोऽभूत् । कविस्तत्रापि आगत्य प्राह ॥

फिर राजाने पश्चिम देशभी मनमें कविको देकर अपना उत्तरको मुख करलिया, तो कविने उत्तरकी ओर आकर कहा ।

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या त्वं कथ्यसे बुधैः ॥
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥ ३१० ॥

हे राजन् ! मनुष्य मिथ्याही आपको सदा समस्त वस्तुओंका दाता कहते हैं क्योंकि शत्रु तुम्हारी पीठ और परस्त्री तुम्हारी छाती नहीं देखती है ॥ ३१० ॥

ततो राजा स्वां भूमिं कविदत्तां मत्वा उत्तिष्ठति स्म । कविश्च तदभिप्रायमज्ञात्वा पुनराह ॥

फिर राजा अपनी भूमि कविको दी मानकर उठ खडा हुआ तव कविनें राजाके अभिप्रायको न जान फिर कहा ।

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति ॥
अभाग्यच्छत्रसंछन्ने मयि नायांति बिंदवः ॥ ३११ ॥

हे राजन् ! तुमसे सुवर्णकी धारा प्रवाह वृष्टि हानपरभी अभाग्यके छत्रसे आच्छादित मेरे ऊपर बिन्दु भी नहीं पडते ॥ २११ ॥

तदा राजा चांतःपुरं गत्वा लीलादेवीं प्राह । देवि ! सर्वं राज्यं कवये दत्तं ततस्तपोवनं मया सहागच्छेति । अस्मिन्नवसरे विद्वान्द्वारि निर्गतः बुद्धिसागरेण वृद्धामात्येन पृष्टः । विद्वन् ! राज्ञा किं दत्तमिति । स आह । न किमपीति । तदामात्यः प्राह तत्रोक्तं श्लोकं पठ । ततः कविः श्लोकचतुष्टयं पठति । अमात्यस्ततः प्राह । सुकवे ! तव कोटिद्रव्यं दीयते परं राज्ञा यदत्र तव दत्तं भवति तत्पुनर्विक्रीयतामिति । कविस्तथा करोति । ततः कोटिद्रव्यं दत्त्वा कविं प्रेषयित्वा अमात्यो राजनिकटमागत्य तिष्ठति स्म । तदा राजा च तमाह । बुद्धिसागर ! राज्यमिदं सर्वं दत्तं कवये पत्नीभिः सह तपोवनं गच्छामि । तत्र तपोवने तवापेक्षा यदि मया सहागच्छेति । ततोऽमात्यः प्राह । देव तेन कविना कोटिद्रव्यमूल्येन राज्यमिदं विक्रीतम् । कोटिद्रव्यं च विदुषे दत्तमतो राज्यं भवदीयमेव भुंक्ष्वेति । तदा राजा च बुद्धिसागरं विशेषेण सम्मानितवान् । अन्यदा राजा मृगयारसेनाटवीमटन् ललाटंतपे तपनेऽनूनदेहः पिपासापर्याकुलस्तुरगमारुह्य उदकार्थी निकटतटभुवमटन् तदलब्ध्वा परिश्रांतः कस्यचिन्महातरोरधस्तादुपविष्टः । तत्र काचिद्गोपकन्या सुकुमारमनोज्ञसर्वांगा यदृच्छया धारानगरं प्रति तक्रं विक्रेतुकामा तक्रभाण्डं चोद्वहंती समागच्छति । तां आगच्छन्तीं दृष्ट्वा राजा पिपासावशादेतद्भांडस्थं पेयं चेत् पिबामीति बुद्ध्यापृच्छत्, तरुणि ! किमावहसीति । सा च तन्मुखश्रिया भोजं मत्वा तत्पिपासां च ज्ञात्वा तन्मुखावलोकनवशाच्छंदोरूपेणाह ॥

फिर राजानें रनवासमें जाकर लीलादेवीसे कहा—हे देवि ! मैंने समस्त राज्य कविको देदिया अतएव तुम मेरे साथ तपोवनमें चलो.। इधर वह विद्वान् द्वारे आया । तब बुद्धिसागर नामक प्रधान मंत्रीने पूछा हे विद्वन् ! राजाने क्या दिया ? तब वह बोला कुछ भी नहीं दिया । फिर मंत्रीने कहा—सभामें सुनाये हुए श्लोकको पढो, तब विद्वान्ने चारों श्लोक सुनाये । फिर मंत्रीने कहा—हे सुकवे ! राजाने जो तुम्हें दिया है उसको यदि तुम वेंचा चाहो तो एक करोड रुपये देता हूँ बेंच दो । कविने वेंच दिया । तव एक करोड रुपये देकर कविको स्थानपर भेज मंत्री राजाके पास आया । राजाने बुद्धिसागरसे कहा हे बुद्धिसागर ! मैं समस्त राज्य कविको दे चुका अब रानियोंके साथ तपोवनको जाता हूं उस तपोवनमें तुम चलाचाहो तो मेरे साथ आओ । मंत्रीने कहा—हे देव ! उस कविने एक करोड रुपये लेकर राज्य वेंच दिया । और करोड रुपये कविको दे दिये अब राज्य आपहीका है आप इसे भोगिये । तब राजाने बुद्धिसागरका बडा सत्कार किया । एक समय राजा शिकार खेलता हुआ वनमें विचरता था जब सूर्य शिरपर आया तब प्याससे व्याकुल हो घोडेपर सवार हो जलके लिये पृथ्वीपर घूमने लगा और जल न पाया फिर थकजानसे विशाल वृक्षके नीचे वैठगया । वहाँ कोमलाङ्गी सुंदरी गोपकुमारी स्वतः धारानगरीमें छाछ बेचनेको छाछपूर्ण घडेको लिये हुए आई उसको आते देख राजाने प्यासके वश विचारा कि, यदि इस पात्रमें कोई पीने योग्य वस्तु हुइ तो अवश्य पिवूंगा इस विचारसे पूंछा कि, हे तरुणि ! इसमें क्या है ? वह गोपकुमारी मुखकी कांतिसे राजा भोज मान और राजाको प्यासा जानकर उनके मुखारविन्दको देखनेके अर्थ छन्द बनाकर बोली ।

हिमकुंदशशिप्रभशंखनिभं ।
परिपक्वकपित्थसुगंधरसम् ॥
युवतीकरपल्लवनिर्मथितं ।
पिब हे नृपराज रुजापहरम् ॥ ३१२ ॥

हे राजेन्द्र ! बरफ, कुंद, चन्द्रमा और शंखकी समान श्वेत, पके कैथकी

समान सुगंधितरसयुक्त और युवतीके करकमलोंसे मथेहुए रोगनाशक इस पदार्थको पान कीजिये ॥ ३१२ ॥

इति। राजा तच्च तक्रं पीत्वा तुष्टः तां प्राह सुभ्रूः! किं तवाभीष्टमिति। सा च किंचिदाविष्कृतयौवनामदपरवशा मोहाकुलनयना प्राह। देव कन्यामेवावेहि। सा पुनराह ॥

इस प्रकार राजा उसकी छाछको पीकर प्रसन्न हो बोला। हे सभ्रु! तुम क्या चाहती हो? तब वह नवयुवती, चञ्चलनयनी, मोह और मदके वश होकर बोली हे देव! मुझे कन्याही जानो। फिर बोली।

इंदुं कैरविणीव कोकपटलीवांभोजिनीवल्लभं।
मेघं चातकमंडलीव मधुपश्रेणीव पुष्पव्रजम् ॥
माकंदं पिकसुंदरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रोषितं।
चेतोवृत्तिरियं सदा नृपवर त्वां द्रष्टुमुत्कंठते ॥ ३१३ ॥

हे राजेन्द्र! जैसे कुमोदिनी चन्द्रको, चकवे सूर्यको, चातक मेघोंको, भ्रमर फूलोंको, कोयल फूलके रसको और स्त्री चिरकालके गये स्वामीको देखनेकी अभिलाषा करती हैं वैसेही मेरे चित्तकी वृत्ति सदा आपको देखनेकी इच्छा करती है ॥ ३१३ ॥

राजा चमत्कृतः प्राह। सुकुमारि! त्वां लीलादेव्या अनुमत्या स्वीकुर्मः। इति धारानगरं नीत्वा तां तथैव स्वीकृतवान्। कदाचिद्राजाभिषेके मदनशरपीडिताया मदिराक्ष्याः करतलगलितो हेमकलशः सोपानपंक्तिषु टटन्नेव पपात। ततो राजा सभायामागत्य कालिदासं प्राह। सुकवे! एनां समस्यां पूरय। 'टटंटटंटंटटटंटटंटम्।' तदा कालिदासः प्राह ॥

राजाने मुग्ध होकर कहा—हे सुकुमारी! तुम्हें लीलादेवीकी अनुमतिसे ग्रहण करूंगा। यह कह धारानगरीमें लाकर उसी प्रकार राजानें अंगीकार

किया । किसी समय राजाके स्नान करनेके समय कामबाणसे पीडित मदमाते नेत्रवाली युवतीके हाथसे सुवर्णका कलश सीढियोंपर शब्द करता हुआ गिर पडा । तब राजाने सभामें आकर कालिदाससे कहा—हे सुकवे ! इस समस्याको पूर्ण करो 'टटंटटंटंटटटंटटंटम्' फिर कालिदासने कहा—

राजाभिषेके मदविह्वलाया ।
हस्ताच्च्युतो हेमघटो युवत्याः ॥
सोपानमार्गेषु करोति शब्दं ।
टटंटटंटंटटटंटटंटम् ॥ ३१४ ॥

राजाके स्नान करानेमें मदमाती युवतीके हाथसे पैडियोंपर जलसे भरा सुवर्णका कलश गिरा तो उसमें शब्द हुआ टटंटटंटंटटटंटटंटम् ॥ ३१४ ॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वाक्षरलक्षं ददौ ॥

तब राजाने अपने अभिप्रायको जानकर प्रत्येक अक्षरपर लाख २ रुपये दिये ।

अन्यदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कश्चिच्चोरः आरक्षकै राजनिकटं नीतः । राजा तं दृष्ट्वा कोऽयमित्यपृच्छत् । तदा आरक्षकाः प्राहुः । देव ! अनेन कुसिल्लकेन कस्मिंश्चिद्वेश्यागृहे घातपातमार्गेण द्रव्याणि अपहृतानीति । तदा राजा प्राह । अयं दंडनीय इति । ततो भुक्कुंडो नाम चोरः प्राह ॥

एक समय राजा भोज सिंहासनपर बैठे थे तब राजदूत किसी चोरको पकडकर राजाके पास लाये । राजाने उसे देखकर पूछा यह कौन है ? तब दूतोंने कहा—हे देव ! इस चोरने किसी वेश्याके घरमें सेंध लगाकर द्रव्य निकाल लिया । तब राजा बोला यह दंड पानेके योग्य है। फिर भुक्कुंड नामक चोरने कहा—

भट्टिर्नष्टो भारविश्चापि नष्टो ।
भिक्षुर्नष्टो भीमसेनोऽपि नष्टः ॥

भुक्कुंडोऽहं भूपतिस्त्वं हि राजन्।
भव्भापंक्तौ कालधर्मः प्रविष्टः ॥ ३१५ ॥

हे राजन्! भट्टि, भारवि, भिक्षु और भीमसेनादि तो नष्ट होगये अब केवल मैं भुक्कुंड और आप भूपति हो भव्भापंक्तिमें कालधर्म प्रविष्ट हुआ है ॥३१५॥

तदा राजा प्राह। भो भुक्कुंड गच्छ गच्छ यथेच्छं विहर। कदाचिद्भोजो मृगयापर्याकुलः वने विचरन् विश्रमाविष्टहृदयः कंचित्तटाकमासाद्य स्थितवान् श्रमात्प्रसुप्तः। ततोऽपरपयोनिधिकुहरं गते भास्करे॥

तब राजाने कहा हे भुक्कुंड! जाओ २ इच्छानुसार भ्रमण करो। किसी समय राजा भोज शिकार खेलने गये वनमें विचरते हुए जब विश्रामको जी चाहा तब किसी सरोवरके किनारे बैठनेसे थक जानेके कारण सोगये।

तत्रैवारोचत निशा तस्य राज्ञः सुखप्रदा॥
चंचच्चंद्रकरानंदसंदोहपरिकंदला ॥ ३१६ ॥

फिर जब सूर्य अस्त होगये (तो) वहीं चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशमान चाँदनी रात्रि राजाको सुख और आनंददायिनी हुई ॥ ३१६ ॥

ततः प्रत्यूषसमये नगरीं प्रति प्रस्थितो राजा चरमगिरिनितंबलंबमानशशांकबिंबमवलोक्य सकुतूहलः सभामागत्य तदा समीपस्थान् कवींद्रान्निरीक्ष्य समस्यामेकामवदत्॥

फिर प्रातःकाल राजा नगरीमें आया तो पश्चिमपर्वतरूपी नितंबपर लटकते हुए चन्द्रबिम्बको देख आनन्दके साथ सभामें आकर निकट विराजमान कवीन्द्रोंको देख एक समस्या कही।

चरमगिरिनितंबे चंद्रबिंबं ललंबे।

पश्चिमपर्वतरूपी नितंबपर चन्द्रमाका बिम्ब लटक रहा है।

तदा प्राह भवभूतिः॥

तब भवभूतिने कहा ।

अरुणकिरणजालैरंतरिक्षे गतर्क्षे ।

सूर्यकी किरणजालसे आकाशसे नक्षत्रोंके दूर होनेपर ।

ततो दंडी प्राह ॥

फिर दंडीकविने कहा ।

चलति शिशिरवाते मंदमंदं प्रभाते ।

प्रातःकालकी मंद २ शीतल पवनके चलने पर ।

ततः कालिदासः प्राह ॥

फिर कालिदासने कहा ।

युवतिजनकदंबे नाथमुक्तोष्ठबिंबे
चरमगिरिनितंबे चंद्रबिंबं ललंबे ॥ ३१७ ॥

हे नाथ ! स्त्रियोंके पतियोंसे ओष्ठबिंब त्यागनेपर पश्चिमपर्वतरूपी नितंबमें चन्द्रबिंब लटक रहा है ॥ ३१७ ॥

ततो राजा सर्वानपि सम्मानितवान् । तत्र कालिदासं विशेषतः पूजितवान् । अथ कदाचिद्भोजो नगराद्बहिर्निर्गतः । नूतनेन तडागांभसा बाल्यसाधितकपालशोधनादि चकार । तन्मूलेन कश्चन शफरशावः कपालं प्रविष्टो विकटकरोटिकानिकटघटितो विनिर्गतः । ततो राजा स्वपुरीमवाप । तदारभ्य राज्ञः कपाले वेदना जाता । ततस्तत्रत्यैर्भिषग्वरैः सम्यक् चिकित्सितापि न शांता । एवमहर्निशं नितरामस्वस्थे राज्ञि अमानुषविदितेन महारोगेण ॥

फिर राजाने सब कवियोंका सन्मान किया, उसमें कालिदासका विशेष सन्मान किया । फिर किसी समय राजा भोज नगरसे बाहर निकले तो नये सरोवरमें बालकपनके स्वभावके अनुसार शिर धोया । शिर धोते समय मछली

शिरपर चढकर (नाकके छिद्रोंद्वारा) ऊपरको चढ गई । तब राजा अपनी राजधानीमें आगये और उसी दिनसे राजाके कपालमें पीडा होनी आरम्भ हुई । भली भांतिसे वैद्योंने चिकित्सा करी परन्तु पीडा न गई । इसी रीतिसे प्रतिदिन राजाका स्वास्थ्य विगडने लगा । उस महारोगको वैद्योंने नहीं जाना ।

क्षामक्षाममभूद्वपुर्गतसुखं हेमंतकालेऽब्जव-।
द्वक्रं निर्गतकांति राहुवदनाक्रांताब्जबिंबोपमम् ॥
चेतः कार्यपदेषु तस्य विमुखं क्लीबस्य नारीष्विव ।
व्याधिः पूर्णतरो बभूव विपिने शुष्के शिखावानिव ॥३१८॥

हेमंतऋतुमें कमलकी समान राजाका शरीर क्षीण हो गया । राहुसे ग्रसे चन्द्रबिंबकी समान मुखकी कांति जाती रही, स्त्रियोंके नपुंसकके चित्तकी समान सब कार्योंसे चित्त हटगया और सूखे वनमें अग्निके प्रबल होनेकी समान शरीरमें पूर्ण व्याधियें होगईं ॥ ३१८ ॥

एवमतीते संवत्सरेऽपि काले न केनापि निवारितस्तद्गदः ततः श्रीभोजो नानाविधसमानौषधग्रसनरोगदुःखितमनाः समीपस्थं शोकसागरनिमग्नं बुद्धिसागरं कथमपि संमताक्षरामुवाच वाचम् । बुद्धिसागर ! इतः परमस्माद्विषये न कोऽपि भिषग्वरो वसतिमातनोतु । बाहटादिभेषजकोशान् निखिलान् स्रोतसि निरस्यागच्छ, मम देवसमागमसमयः समागत इति । तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि पौरजनाः कवयश्च अवरोधसमाजाश्च विगलदस्रासारनयना बभूवुः । ततः कदाचिद्देवसभायां पुरंदरः सकलमुनिवृन्दमध्यस्थं वीणामुनिमाह । मुने ! इदानीं भूलोके का नाम वार्तेति । ततो नारदः प्राह । सुरनाथ ! न किमप्याश्चर्यं किंतु धारानगरवासी श्रीभोजभूपालः रोगपीडितो नितरामस्वस्थो वर्तते स तस्य रोगः केनापि न निवारितः ।

तदनेन भोजनृपालेन भिषग्वरा अपि स्वदेशान्निष्कासिताः वैद्यशास्त्रमपि अनृतमिति निरस्तमिति । एतदाकर्ण्य पुरुहूतः समीपस्थौ नासत्याविदमाह । भोः स्ववैद्यौ ! कथमनृतं धन्वतरीयं शास्त्रम् । तदा तावाहतुरमरेश देव ! न व्यलीकमिदं शास्त्रं किंत्वमरविदितेन रोगेण बाध्यतेऽसौ भोज इति । इंद्रः कोसाववार्यरोगः किं भवतोर्विदितः । ततस्तावूचतुः । देव ! कपालशोधने कृते भोजेन तदा प्रविष्टः पाठीनः तन्मूलोऽयं रोग इति । तदा इंद्रः स्मयमानमुखः प्राह । तदिदानीमेव युवाभ्यां गंतव्यं न चेदितःपरं भूलोके भिषक्शास्त्रस्यासिद्धिर्भवेत् । न खलु सरस्वतीविलासस्य निकेतनं शास्त्राणामुद्धर्ता चेति । ततः सुरेंद्रादेशेन ता उभावपि धृतद्विजन्मवेषौ धारानगरं प्राप्य द्वारस्थं प्राहतुः । द्वारस्थ ! आवां भिषजौ काशीदेशादागतौ श्रीभोजाय विज्ञापय तेनानृतमित्यंगीकृतं वैद्यशास्त्रमिति श्रुत्वा तत्प्रतिष्ठापनाय तद्रोगनिवारणाय चेति । ततो द्वारस्थः प्राह । भो विप्रौ न कोऽपि भिषक्प्रवरः प्रवेष्टव्य इति राज्ञोक्तम् । राजा तु केवलमस्वस्थो नायमवसरो विज्ञापनस्येति । तस्मिन्क्षणे कार्यवशाद्बहिर्निर्गतो बुद्धिसागरस्तौ दृष्ट्वा कौ भवंतावित्यपृच्छत् । ततस्तौ यथागतमूचतुः । ततो बुद्धिसागरेण तौ राज्ञः समीपं नीतौ ततो राजा ताववलोक्य मुखश्रिया अमानुषाविति बुद्ध्वा आभ्यां शक्यतेऽयं रोगो निवारितुमिति निश्चित्य तौ बहु मानितवान् । ततस्तावूचतुः । राजन्न भेतव्यं रोगो निर्गतः । किंतु कुत्रचिदेकांते त्वया भवितव्यमिति । ततो राज्ञापि तथा कृतम् । ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करो-

टिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य संधानकरण्या कपालं यथावदारचय्य संजीविन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तददर्शयताम् । तदा तुहृष्टो राजा विस्मितः किमेतदिति तौ पृष्टवान् । तदा तावूचतुः । राजन् ! त्वया बाल्यादारभ्य परिचितकपालशोधनतः संप्राप्तमिति । ततो राजा तावश्विनौ मत्वा तच्छोधनार्थमपृच्छत् । किमस्माकं पथ्यमिति । ततस्तावूचतुः ॥

ऐसे एक वर्षके बीत जानेपरभी वह रोग किसीसे नहीं गया । फिर अनेक प्रकारकी औषधियोंके सेवन करनेसे दुःखी होकर राजा भोजने शोकसागरमें डूबते हुए समीपमें बैठे बुद्धिसागर नामक प्रधान मन्त्रीसे बडी कठिनाईके साथ कहा कि, हे बुद्धिसागर ! अब कोई ऐसी औषधि नहीं है जिससे मेरा रोग शान्त हो । तुम वाह्वट आदि सभी औषधियोंकी निधिको जलप्रवाह कर दो । मेरी मृत्युका समय निकट आगया है । यह सुन समस्त नगरवासी और कविसमाजके कवि रनवासमें रोने लगे । एक समय देवताओंकी सभामें विराजमान इन्द्रने मुनियोंके बीचमें वीणाधारी नारदजीसे कहा—हे मुने ! अब पृथ्वीपर क्या बात हो रही है । तब नारदजी बोले—हे देवराज ! और तो कोई नई बात नहीं है केवल धारानगरीका राजा भोज रोगसे पीडित और अस्वस्थ हो रहा है । राजाका वह रोग किसीसे दूर नहीं हुआ । अतएव राजा भोजने वैद्योंकोभी अपने देशसे निकाल दिया । और वैद्यकशास्त्रको मिथ्या जान जलमें डुबो दिया । इसको सुनकर इन्द्रने अश्विनीकुमारोंसे पूछा—हे स्वर्गीय वैद्यगण ! क्या वैद्यकशास्त्र मिथ्या है ? तब वह बोले—हे सुरेश ! हे देव ! यह शास्त्र मिथ्या नहीं है, परन्तु राजा भोज देवताओंके ज्ञात रोगसे पीडित है । इन्द्रने कहा—निवारणके अयोग्य इस रोगको तुमने कैसे जाना । तब वह बोले, हे देव ! (सरोवरमें) जब भोजने शिर धोया था उस समय मछली कपालमें चढगई उसीका यह रोग है । तब इन्द्रने हंसकर कहा, तुम अभी जाओ—नहीं तो वैद्यकशास्त्र मिथ्या सिद्ध होगा । राजा सरस्वतीविलासके

स्थानोंको और शास्त्रोंको नष्ट करदेगा । फिर इन्द्रकी आज्ञासे उन दोनोंने ब्राह्मणका रूप धरकर धारानगरीमें जाय द्वारपालसे कहा—हे द्वारपाल ! हम दोनों वैद्य काशीधामसे आये हैं राजाको सूचना दो । जो राजाने वैद्यकशास्त्रको मिथ्या मान रक्खा है सो वैद्यकशास्त्रको सत्य दिखाकर राजाका रोग दूर करनेके लिये आये हैं । द्वारपालने कहा—हे ब्राह्मणो ! राजाकी आज्ञा है कि, कोई वैद्यवर नहीं आने पावे, अतएव राजाके अधिक रोगपीडित होनेसे यह समय सूचना देनेका नहीं है । उसी समय किसी कार्यसे बुद्धिसागर बाहर आया और उनको देखकर उसने पूछा आप कौन हैं ? फिर उन्होंने यथार्थ रूपसे अपना परिचय दिया । तब बुद्धिसागर उनको राजाके पास लेगया । राजाने उनके मुखमण्डलकी कांति देखकर विचारा कि यह मनुष्य नहीं हैं और इनके द्वारा रोग अवश्य दूर होगा, ऐसा मानकर उनका बडा सत्कार किया । तब अश्विनीकुमार बोले—हे राजन् ! भय मत करो अब रोग दूर हुआ । लेकिन किसी एकान्त स्थानमें चलिये । राजा एकान्त स्थानमें चला गया । फिर उन्होंने राजाको मोहचूर्णसे मोहित कर शिरके कपालको ले उसकी करोटीके पुटमेंसे मछलीको निकाल किसी पात्रमें डालकर संधानकरणीसे कपालको ठीक स्थापित कर मृतसञ्जीविनी विद्यासे जिलाय राजाको मछली दिखाई तब राजाने उसको देखकर आश्चर्यके साथ पूछा यह क्या है ? उन्होंने कहा—हे राजन् ! तुमने बाल्यावस्थासे जो कपालशोधन किया उसीसे यह रोग होगया । तब राजाने उन्हें अश्विनीकुमार मान उसकी शुद्धिके लिये पूछा कि अब क्या पथ्य होना चाहिये । वे बोले—

अशीतेनांभसा स्नानं पयःपानं वराः स्त्रियः ॥

गरम जलसे स्नान करना, दूध पीना और उत्तम स्त्रीसेवन ।

एतद्वो मानुषाः पथ्यमिति ।

हे मनुष्यो ! तुम्हारा यह पथ्य है ।

तत्रांतरे राजा मध्ये 'मानुषाः' इति संबोधनं श्रुत्वा वयं चेन्मानुषाः कौ युवामिति तयोर्हस्तौ झटिति स्वहस्ताभ्यामग्रहीत् ।

ततस्तत्क्षण एव तावंतर्धत्तां ब्रुवंतावेव कालिदासेन पूरणीयं तुरीयचरणमिति। ततो राजा विस्मितः सर्वानाहूय तद्वृत्तमब्रवीत्। तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि चमत्कृताः विस्मिताश्च बभूवुः॥

इससे राजाने मनुष्यका संबोधन सुन हम मनुष्य हैं तो आप कौन हैं यह कह शीघ्रतासे उनके हाथ पकडलिये। तब वह उसी समय यह कहते हुए अन्तर्द्धान होगये कि, चौथा पद कालिदास पूर्ण करेगा। फिर राजाने विस्मित होकर सबको बुलाय समाचार कहा। इस बातको सुनकर सभी चमत्कृत हुए और विस्मित हुए।

तत्कालिदासेन तुरीयचरणं पूरितम्।
स्निग्धमुष्णं च भोजनम्॥ इति॥ ३१९॥

चौथा पद कालिदासने इस भांतिसे पूर्ण किया चिकना गरम भोजन पथ्य है॥ ३१९॥

ततो भोजोऽपि कालिदासं लीलामानुषं मत्वा परं सम्मानितवान्। अथ भोजनृपालः प्रतिदिनं संजातबलकांतिर्ववृधे धाराधीशः कृष्णेतरपक्षे चंद्र इव। ततः कदाचित्सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कालिदासभवभूतिदंडिबाणमयूरवररुचिप्रभृतिकवितिलककुलालंकृतायां सभायां द्वारपाल एत्याह। देव! कश्चित्कविर्द्वारि तिष्ठति। तेनेयं प्रेषिता गाथा सनाथा चीठिका देवसभायां निक्षिप्यतामिति तां दर्शयति राजा गृहीत्वा तां वाचयति॥

फिर राजाने कालिदासको लीलामानुष जानकर बडा सत्कार किया। फिर धाराधीश राजा भोज शुक्लपक्षके चंद्रमाकी समान प्रतिदिन निरोग और स्वस्थ होनेलगे। किसी समय राजा भोज सिंहासनपर बैठे थे कालिदास, भवभूति, दंडी, बाण, मयूर और वररुचि आदि कविराज तिलकरूपसे सभामें विराजमान थे। तब द्वारपालने आकर कहा है—देव

कोई कवि दरवाजे खडे हैं। उन्होंने यह गाथा युक्त चिट्ठी देकर कहा है कि, इसको राजाकी सभामें रखकर दिखाओ। राजाने उसको लेकर पढा।

काचिद्बाला रमणवसतिं प्रेषयन्ती करंडं।
दासीहस्तात्सभयमलिखद्व्यालमस्योपरिस्थम्॥
गौरीकांतं पवनतनयं चंपकं चात्र भावं।
पृच्छत्यार्यो निपुणतिलको मल्लिनाथः कवींद्रः॥ ३२०॥

किसी युवतीने अपने प्रवासी पतिके पास दासीके द्वारा पिटारी भेजी। उसमें उसने भयके साथ पहले सर्प लिखा, सर्पके ऊपर महादेवजी, महादेवजीके ऊपर हनुमान् और हनुमान्जीके ऊपर चंपाका फूल लिखा सो इसका क्या अभिप्राय है? यह प्रवीणोंका तिलकरूपी कवीन्द्र मल्लिनाथ पूछता है॥ ३२०॥

तच्छ्रुत्वा सर्वापि विद्वत्परिषच्चमत्कृता। ततः कालिदासः प्राह। राजन्मल्लिनाथः शीघ्रमाकारयितव्य इति। ततो राजादेशात् द्वारपालेन स प्रवेशितकवी राजानं स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः। ततो राजा प्राह तं कवींद्रम्। विद्वन्मल्लिनाथकवे! साधु रचिता गाथा। कालिदासः प्राह। किमुच्यते साध्विति। देशांतरगतकांतायाश्चारित्र्यवर्णनेन श्लाघनीयोऽसि विशिष्य तत्तद्भावप्रति-

---

१ सर्प आदि चार चित्रोंके लिखनेका तात्पर्य यह है कि, युवतीने पिटारीमें फूल रखके भेजे-तो फूलोंकी गंधको यदि पवन लेने आवे तो सर्पके भयसे नहीं लेसकेगा। फूलोंको-बाण बनानेके लिये यदि कामदेव लेना चाहे तो शिवजीके भयसे न लै सकेंगे। फूलोंको-सूर्य अपनी किरणोंसे सुखाना चाहे तो हनुमान्जीके भयसे न सुखा सकेंगे। और फूलोंके मधुको भ्रमर पीना चाहे तो चम्पाके फूलको देख पास नहीं आवेंगे।

---

(१) सर्प पवनको खालेताहै। (२) शिवने कामदेवको भस्म किया है। (३) हनुमान्जीने उत्पन्न होतेही सूर्यको निगललिया। (४) चम्पाके फूलपर भ्रमर नहीं जाताहै।

भटवर्णनेन। तदा भवभूतिः प्राह। विशिष्यते इयं गाथा पंक्तिकं-[1]ठोद्यानवैरिणो वातात्मजस्य वर्णनादिति। ततः प्रीतेन राज्ञा तस्मै दत्तं सुवर्णानां लक्षं पंच गजाश्च दश तुरगाश्च दत्ताः। ततः प्रीतो विद्वान् स्तौति राजानम्॥

उसको सुन सब विद्वण्मण्डली चमत्कृत हुई। तब कालिदास बोले—हे राजन्! मल्लिनाथको शीघ्र बुलाइये। फिर राजाकी आज्ञासे द्वारपाल कविको सभामें लेआया। कविने राजासे आकर 'स्वस्ति' कहा और राजाकी आज्ञासे बैठगया। तब राजा उस कविराजसे बोले—हे विद्वन् मल्लिनाथकवे! अच्छी गाथा बनाई है। कालिदासने कहा—क्या उत्तमही बतातेहो, प्रवासी पतिके चरित्रके वर्णनमें सभी भाव श्लाघनीय हैं। भवभूतिने कहा—यह गाथा हनूमान्‌जीके वर्णनसे बढगई है। फिर प्रसन्न हो राजाने उसको लाख मोहर, पांच हाथी और दश घोडे दिये। तब प्रसन्न होकर विद्वान्‌ने राजाकी स्तुति की॥

देव भोज तव दानजलौघैः।
सोयमद्य रजनीति विशंके॥
अन्यथा तदुदितेषु शिलागो-।
भूरुहेषु कथमीदृशदानम्॥ ३२१॥

हे राजन्! हे भोजदेव! तुम्हारे दानके जलोंसे शंका होतीहै कि, तुम्हारे घरपर रात्रि हैं, नहीं तो वहां उत्पन्न हुई शिला गौ और वृक्षोंमें ऐसा दान कैसे होवे अर्थात् दानके निमित्त सोनेकी शिला और अनेक गौ हैं। उस दानके जल गिरनेसे पृथ्वीपर वृक्ष जमआयेहैं, इसीसे रात्रि दीखती है। ऐसा दान क्या है यही शंका है॥ ३२१॥

ततो लोकोत्तरं श्लोकं श्रुत्वा राजा पुनरपि तस्मै लक्षत्रयं ददौ। ततो लिखति स्म भांडारिको धर्मपत्रे॥

---

1 पंक्तिकंठस्य रावणस्योद्यानमशोकवनं तस्य वैरिणः।

फिर विचित्र श्लोक सुन राजाने उसको तीन लाख रुपये और दिये। तब खजानचीने धर्मपत्रपर लिखा।

प्रीतः श्रीभोजभूपः सदसि विरहिणीगूढनर्मोक्तिपद्यं।
श्रुत्वा हेम्नां च लक्षं दश स च तुरगान् पंच नागानयच्छत् ॥
पश्चात्तत्रैव सोऽयं वितरणगुणसद्वर्णनात् प्रीतचेता।
लक्षं लक्षं च लक्षं पुनरपि च ददौ मल्लिनाथाय तस्मै ॥३२२॥

प्रसन्न होकर सभाके बीच राजा भोजने वियोगिनी युवतीकी गूढ युक्तिपूर्ण श्लोकको सुन मल्लिनाथ कविके लिये लाख मोहर, दश घोडे और पांच हाथी दिये। फिर उसी स्थानपर राजा भोजके दानकी महिमा वर्णन करनेसे प्रसन्न होकर राजाने फिर तीन लाख रुपये मल्लिनाथ कविको दिये ॥ ३२२ ॥

ततः कदाचिद्भोजराजः कालिदासं प्रति प्राह। सुकवे त्वमस्माकं चरमग्रंथं पठ। ततः क्रुद्धो राजानं विनिंद्य कालिदासः क्षणेन तं देशं त्यक्त्वा विलासवत्या सह एकशिलानगरं प्राप। ततः कालिदासवियोगेन शोकाकुलस्तं कालिदासं मृगयितुं राजा कापालिकवेषं धृत्वा क्रमेण एकशिलानगरं प्राप। ततः कालिदासो योगिनं दृष्ट्वा तं सामपूर्वं पप्रच्छ। योगिन्! कुत्र तेऽस्ति स्थितिरिति। योगी वदति। सुकवे! अस्माकं धारानगरे वसतिरिति। ततः कविराह। तत्र भोजः कुशली किम्। ततो योगी प्राह। किं मया च वक्तव्यमिति। ततः कविराह। तत्रातिशयवार्त्तास्ति चेत्सत्यं कथयेति। तदा योगी प्राह। भोजो दिवं गत इति। ततः कविर्भूमौ निपत्य प्रलपति। देव! त्वां विनास्माकं क्षणमपि भूमौ न स्थितिः। अतस्त्वत्समीपमहमागच्छामि इति कालिदासः बहुशो विलप्य चरमश्लोकं कृतवान् ॥

फिर किसी समय राजा भोजने कालिदाससे कहा—हे सुकवे ! तुम हमारे अंतसमयके ग्रंथको पढो । तब क्रोधित होकर कालिदासने राजाकी निन्दा करी और उसी समय धारानगरीको त्याग विलासवतीको साथ ले एकशिलानामक नगरमें जा वसे । फिर कालिदासके वियोगसे शोकित हो कालिदासके ढूँढनेके लिये राजा जोगीका भेष बनाय एकशिलानगरमें गये । कालिदासने जोगीसे पूछा, हे भगवन् ! आपका कहाँ निवास है ? जोगीने कहा—हे सुकवे ! मैं धारानगरीमें रहता हूं । कालिदासने कहा—वहांका राजा भोज तो प्रसन्न है ? योगी बोला क्या कहूं ? कालिदासने कहा—वहांकी विचित्र बात हो तो कहिये । तब योगी बोला—राजा भोज तो स्वर्गको सिधारगये । यह सुनतेही कालिदास पृथिवीमें गिरकर विलाप करनेलगे । कि, हे देव ! तुम्हारे विना मैं क्षणकालभी पृथिवीपर नहीं रहसक्ताहूँ । अतएव मैंभी तुम्हारे पास आताहूं यह कह कालिदासने वारंवार विलाप करते हुए अन्तसमयका श्लोक रचा ।

अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती ॥
पंडिताः खंडिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते ॥ ३२३ ॥

आज राजा भोजके स्वर्ग सिधारनेपर धारानगरी निराधार होगई, विद्या आश्रयहीन होगई और संपूर्ण पंडित खंडित होगये ॥ ३२३ ॥

एवं यदा कविना चरमश्लोक उक्तस्तदैव स योगी भूतले विसंज्ञः पपात । ततः कालिदासस्तथाविधं तमवलोक्य अयं भोज एवेति निश्चित्य अहह महाराज ! तत्रभवताहं वंचितोऽस्मीत्यभिधाय झटिति तं श्लोकं प्रकारांतरेण पपाठ ॥

इस प्रकार जब कविने अन्तका श्लोक पढा तब योगी अचेत होकर पृथ्वीपर गिरपडा । तब कालिदासने उसे ध्यानसे देख भोजही है ऐसा निश्चय कर कहा, अहाहा ! बडा खेद है महाराज ! आज आपने मुझे ठगलिया । यह कह शीघ्रतासे कालिदासने दूसरे प्रकारसे उसी श्लोकको पढा ।

अद्य धारा सदाधारा सदालंबा सरस्वती ॥
पंडिता मंडिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते ॥ ३२४ ॥

आज राजा भोजके पृथिवीपर आनेसे धारनगरीको भली भांतिसे आधार मिला, सरस्वतीको अवलंब मिला और समस्त पंडित मंडित होगये ॥३२४॥

ततो भोजस्तमालिंग्य प्रणम्य धारानगरं प्रति ययौ ॥

फिर राजा भोज कालिदाससे मिलकर प्रणाम करके धारानगरीमें चलेआये ॥

शैले शैलविनिश्चलं च हृदयं मुंजस्य तस्मिन्क्षणे ।
भोजे जीवति हर्षसंचयसुधाधारांबुधौ मज्जति ॥
स्त्रीभिः शीलवतीभिरेव सहसा कर्तुं तपस्सत्वरे ।
मुंजे मुंचति राज्यभारमभजत्त्यागैश्च भोगैर्नृपः ॥ ३२५ ॥

इति श्रीबल्लालपण्डितविरचितः श्रीमन्महाराजाधिराजस्य धारानगराधीश्वरस्य भोजराजस्य प्रबंधः समाप्तिमफाणीत् ।

राजा मुंजने (वत्सराजके द्वारा) भोजके शिरको कटवा लिया था और फिर भोजके (योगीद्वारा) जीवित हो जानेपर (मुंज) आनन्दसागरमें मग्न होगया फिर मुंजने पत्थरका हृदय बनाय अपनी शीलवती रानियोंको साथ ले तप करनेके निमित्त वनमें प्रवेश किया । मुंजके राज्य छोडनेपर राजा भोजने दान और भोगके साथ राज्यका शासन किया ॥ ३२५ ॥

इति श्रीबल्लालपंडितकृत भोजप्रबंधकी सरल हिन्दी भाषाटीका बाँस-बरेलीनिवासी पंडित श्यामसुंदरलाल त्रिपाठीकृत समाप्त ।

इति भोजप्रबन्धः समाप्तः ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
'लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर' स्टीम् प्रेस, कल्याण-मुंबई.

आल्हारामायण (लंकाकांड) ०–८
आल्हखण्ड–आल्हाऊदल पृथ्वीराज
आदि क्षत्रियोंका युद्ध ५२ लडाईमें २–४
आनंदसागर ०–७
आनंदसरोवर–जिसमें ईश्वरस्तुति, प्रार्थना
धर्मविषयक अनेक रागरागिनियोंमें
कवित्त भजन, ठुमरी, दादरा, गजल,
सावन चौमासा, बारामासी, होरी
ख्याल, शैर लावणी आदि संग्रह है ०–७
आरतीसंग्रह २९ आरतीका बडा ०–२
अध्यात्मप्रकाश ०–३
इतिहासकथा सत्यनारायण तथा ख्याल
अष्टपदी कवितामें ०–२
ऊषाचरित्र भाषापद्योंमें ०–४
उपदेशचांद्रिका ०–२
एकादशस्कन्ध भाषाटीकासहित नूतन
छपा है जिल्द बंद ग्लेज १–८
तथा रफ् कागज १–४
कवित्तरामायण ०–४
कवितरामायण सटीक ०–१४
कबीरकसौटी (श्रीकबीरजीकी साखी और
उनका दृष्टांतोंसे प्रतिपादन है). ०–४
कबीरकृष्णगीता (अन्यत्र नहीं छपी) १–०
कलिप्रपंचपच्चीसी ०–१
कजरीरागसंग्रह ०–२
कान्यकुब्जचिंतामणि भा० टी० .... ०–८